केनोपनिषदि
विशिष्टाद्वैतपरकम्
श्रीराघवकृपाभाष्यम्
(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)
भाष्यकाराः – जगद्गुरुरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यमहाराजाः चित्रकूटीयाः

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।
।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

केनोपनिषदि
(विशिष्टाद्वैतपरकम्)

श्रीराघवकृपाभाष्यम्
(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)

भाष्यकाराः-
जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यजीमहाराजाः
चित्रकूटीयाः

प्रकाशक :
श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः
तुलसीपीठः, आमोदवनम्
श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं-सतना (म० प्र०)

प्रकाशक :

श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः

तुलसीपीठः, आमोदवनम्,
श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं–सतना (म० प्र०)
दूरभाष : ०७६७०–६५४७८

✪

प्रथमसंस्करणम् : ११०० प्रतयः

✪

✪

मूल्यम् : ९०.०० रुपया

✪

प्राप्तिस्थानम् :

तुलसीपीठः, आमोदवनम्, चित्रकूटं जनपदं–सतना (म० प्र०)
वसिष्ठायनम्, (रानीगली) जगद्गुरु रामानन्दाचार्य मार्ग, भोपतवाला, हरिद्वार (उ० प्र०).
श्रीगीताज्ञानमन्दिर, भक्तिनगर सर्कल, राजकोट (गुजरात) पिन– ३६०००२

✪

मुद्रक :

राघव ऑफसेट
वैजनत्था, वाराणसी– १०
फोन : ३२००३९

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

प्रकाशकीयम्

नीलनीरदसंकाशकान्तये श्रितशान्तये ।
रामाय पूर्णकामाय जानकीजानये नमः ।।

साम्प्रतिकबुद्धिजीविवर्गे पण्डितसमाजे च श्रीवैष्णवसत्समाजे को नाम नाभिनन्दति ? पदवाक्यप्रमाणपारावारीणकवितार्किकचूडामणिसारस्वत-सार्वभौमपण्डितप्रकाण्डपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीवैष्णवकुलतिलकत्रिदण्डीश्वर-श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यवाचस्पतिमहामहनीयस्वामिरामभद्राचार्य-महाराजराजिष्णुप्रतिभाधनम् । आचार्यचरणैः श्रीसम्प्रदायश्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवानुमोदितविशिष्टाद्वैतवादाम्नायमनुसृत्य ईशावास्यादि बृहदारण्यकान्तानामेका-दशोपनिषदां श्रीराघवकृपाभाष्यं प्रणीय भारतीयसंस्कृतवाङ्मयसनातनधर्मावलम्बिनां कियान् महान् उपकारो व्यधायीति तु निर्णेष्यतीतिहासः सोल्लासः । अस्य ग्रन्थरत्नस्य प्रकाशनदायित्वं श्रीतुलसीपीठसेवान्यासाय प्रदाय ऋणिनः कृता वयं श्रीमज्जगद्गुरुभिः वयं तेषां सततमाधमर्ण्यभाजः । अहं धन्यवादं दित्सामि साधुवादं च, वाराणसीस्थाय राघव ऑफसेट मुद्रणालयाध्यक्षाय चन्दनेशाय श्रीविपिनशंकरपाण्ड्यामहाभागाय, येन महता परिश्रमेण निष्ठया च गुरुगौरवेण जनताजनार्दनकरकमलं समुपस्थापितं ग्रन्थरत्नमेतत् । अहमाभारं बिभर्मि सकल-शास्त्रनिष्णातानां पण्डितप्रवराणां मुद्रणदोषनिराकरणचञ्चूनां जगद्गुरुवात्सल्यभाजनानां परमकुशलकर्मणां पं० प्रवर श्रीशिवरामशर्मणाम् पं० कृपासिन्धुशर्मणाम् च ।

अन्ततः साग्रहं निवेदयामि सर्वान् विद्वत्प्रवरान्, यत्—

ग्रन्थरत्नमिदं मत्वा सीताभर्तुरनुग्रहम् ।
निराग्रहाः समर्चन्तु रामभद्रार्यभारतीम् ।।

इति निवेदयते
राघवीया
कु० गीता देवी
प्रबन्धन्यासी, श्रीतुलसीपीठसेवान्यासस्य

श्रीराघवाष्टकम्

निशल्या कौसल्या सुखसुरलतातान्तिहृतये ।
यशोवारां राशेरुदयमभिकाङ्क्षन्निव शशी ।
समञ्चन् भूभागं प्रथयितुमरागं पदरतिम् ।
तमालश्यामो मे मनसि शिशुरामो विजयते ।।१।।

क्वचित् क्रीडन् व्रीडाविनतविहगैर्वृन्दविरुदो ।
विराजन् राजीवैरिव परिवृतस्तिग्मकिरणः ।
रजोवृन्दं वृन्दाविमलदलमालामलमलम् ।
स्वलङ्कुर्वन् बालः स इह रघुचन्द्रो विजयते ।।२।।

क्वचिन् माद्यन् माद्यन् मधुनवमिलिन्दार्यचरणा- ।
म्बुजद्वन्द्वो द्वन्द्वापनयविधिवैदग्ध्यविदितः ।
समाकुञ्चत् केशैरिव शिशुघनैः संवृतमिव ।
विधुं वक्त्रं विभ्रन् नरपतितनूजो विजयते ।।३।।

क्वचित् खेलन् खेलन् मृदुमरुदमन्दाञ्चलचल- ।
च्छिरः पुष्पैः पुञ्जैर्विबुधललनानामभिचितः ।
चिदान्दो नन्दन् नवनलिननेत्रो मृदुहसन् ।
लसन् धूलीपुञ्जैर्जगति शिशुरेको विजयते ।।४।।

क्वचिन् मातुः क्रोडे चिकुरनिकरैरंजितमुखः ।
सुखासीनो मीनोपमदृशिलसत्कज्जलकलः ।
कलातीतो मन्दस्मितविजितराकापतिरुचिः ।
पिबन् स्तन्यं रामो जगति शिशुहंसो विजयते ।।५।।

क्वचिद् बालो लालालसितललिताम्भोजवदनो ।
वहन् वासः पीतं विशदनवनीतौदनकणान् ।

विलुण्ठन् भूभागे रजसि विरजा सम्भृत इव ।
तृषा ताम्यत्कामो भवभयविरामो विजयते ।।६।।

क्वचिद् राज्ञो हर्षं प्रगुणयितुकामः कलगिरा ।
निसिञ्चन् पीयूषं श्रवणपुटके सम्मतसताम् ।
विरिंगन् पणिभ्यां वनरुहपदाभ्यां कलदृशा ।
निरत्यन् नैराश्यं नवशशिकरास्यो विजयते ।।७।।

क्वचिन् नृत्यन् छायाछुपितभवभीतिर्भवभवो ।
दधानोऽलंकारं विगलितविकारं शिशुवरः ।
पुराराते: पूज्यः पुरुषतिलकः कन्दकमनः ।
अयोध्यासौभाग्यं गुणितमिहरामो विजयते ।।८।।

जयत्यसौ नीलघनावदातो ।
विभा विभातो जनपारिजातः ।
शोभा समुद्रो नरलोकचन्द्रः ।
श्रीरामचन्द्रो रघुचारुचन्द्रः ।।९।।

ईशावास्यसमारब्धाः बृहदारण्यकान्तिमाः ।
ऐकादशोपनिषदो विशदाः श्रुतिसम्मताः ।।१०।।

श्रीराघवकृपाभाष्यनाम्ना भक्तिसुगन्धिना ।
पुण्यपुष्पोत्करेणेड्याः मया भक्त्या प्रपूजिताः ।।११।।

क्वचित्क्वचित् पदच्छेदः क्वचिदन्वययोजना ।
क्वचिच्छास्त्रार्थपद्धत्या पदार्थाः विशदीकृताः ।।१२।।

खण्डनं परपक्षाणां विशिष्टाद्वैतमण्डनम् ।
चन्दनं वैष्णवसतां श्रीरामानन्दनन्दनम् ।।१३।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं भूषितं सुरभाषया ।
भाषितं भव्यया भक्त्या वेदतात्पर्यभूषया ।।१४।।

प्रमाणानि पुराणानां स्मृतीनामागमस्य च।
तथा श्रीमानसस्यापि दर्शितानि स्वपुष्टये ।।१५।।

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दञ्चेति यथास्थलम्।
प्रमाणत्रितायं ह्यत्र तत्वत्रयविनिर्णयम् ।।१६।।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तदर्पणं श्रुतितर्पणम्।
अर्पणं रामभद्रस्य रामभद्रसमर्पणम् ।।१७।।

यदि स्युः त्रुटयः काश्चित्ताः ममैवाल्पमेधसः।
यदत्र किञ्चिद्वैशिष्ट्यं तच्छ्रीरामकृपाफलम् ।।१८।।

रुद्रसंख्योपनिषदां मया भक्त्या प्रभाषितम्।
श्रीराघवकृपाभाष्यं शीलयन्तु विमत्सराः ।।१९।।

इति मंगलमाशास्ते
श्रीवैष्णवविद्वत्प्रीतिवशंवदो राघवीयो जगद्गुरु रामानन्दाचार्यो स्वमिरामभद्राचार्यः
अधिचित्रकूटम्।

•

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

उपोद्घात

केन विश्वमिदं सृष्टं कस्मै नम उदीर्यताम्।
इति जिज्ञासितं भक्तैर्ब्रह्मसीतापतिंश्रये ।।

वैदिक मन्त्र भाग का यदि मलभंग के लिये कर्मकाण्ड में उपयोग है तो वहीं परमात्मा की अपरोक्ष अनुभूति एवं भारत-भारती की अक्षय्य संवित के लिए उपनिषद् का भी प्रत्येक आध्यात्मिक व्यक्ति के लिये चिर संस्मरणीय विनियोग भी है। उपनिषद हमारी भारतीय मनीषा का एक ऐसा अविरल और अनादि ज्ञान स्त्रोत है जिसका प्रवाह शाश्वत एवं पुरातन है। वेद के ज्ञानकाण्ड में तप:पूत महर्षियों द्वारा साक्षात्कार की हुई ये उपनिषदें आज भी लगभग एक सौ पचास की संख्या में उपलब्ध होती हैं जो सबकी सब पूर्वाचार्यों द्वारा स्वत: प्रमाण की कोटि में लाई गई हैं। उनमें केन उपनिषद् ब्रह्मजिज्ञासुओं के लिये बहुत ही उपयोगी निधि है। केन से प्रारम्भ होने के कारण इसे केन उपनिषद् कहते हैं। इसमें यक्ष की आख्यायिका तथा उमा इन्द्र-संवाद के माध्यम से सगुण साकार सविशेष परमात्मा का बहुत ही रोचक एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है।

केन उपनिषद् पर मैंने प्रस्थानत्रयी के भाष्य के क्रम में हिन्दी तथा संस्कृत भाषा में श्रीराघवकृपा भाष्य नामक दो व्याख्याओं का प्रणयन किया है। जिनमें श्रुतियों का अक्षरार्थ, अन्वयार्थ, भावार्थ तथा गंभीरतम पदार्थों को समझाने का यथासंभव एक लघुतम प्रत्यत्न मात्र किया गया है। मुझे विश्वास है कि श्रीराघव ऑफसेट प्रेस में मुद्रित तथा श्रीतुलसीपीठ सेवा न्यास आमोदवन श्रीचित्रकूट धाम से प्रकाशित केनोपनिषद् श्रीराघवकृपाभाष्य निश्चित ही अपने अध्येताओं के मन मन्दिर में प्रभु श्री सीताराम के श्रीचरण कमल की प्रेम सुरभि बिखेरने में कृतकार्य हो सकेगा।

।। इति मंगलमाशास्ते धर्मचक्रवर्ती चित्रकूटस्थ श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्‌गुरु रामानन्दाचार्यस्वामी रामभद्राचार्य महाराज ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

आचार्यचरणानां बिरुदावली

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।।
रामानन्दाचार्यं मन्दाकिनीविमलसलिलासिक्तम् ।
तुलसीपीठाधीश्वरदेवं जगद्गुरुं वन्दे ।।

श्रीमद् सीतारामपादपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतश्रीसम्प्रदायप्रवर्तकसकलशास्त्रार्थ-महार्णवमन्दरमतिश्रीमदाद्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणारविन्दचञ्चरीकः समस्त-वैष्णवालंकारभूताः आर्षवाङ्मयनिगमागमपुराणेतिहाससन्निहितगम्भीरतत्वान्वेषण-तत्पराः पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणाः सांख्ययोगन्यायवैशेषिकपूर्वमीमांसावेदान्तनारद-शाण्डिल्यभक्तिसूत्रगीतावाल्मीकीयरामायणः भागवतादिसिद्धान्तबोधपुरःसरसमधि-कृताशेषतुलसीदाससाहित्य-सौहित्यस्वाध्यायप्रवचनव्याख्यानपरमप्रवीणाः सनातनधर्म-संरक्षणधुरीणाः चतुराश्रमचातुर्वर्ण्यमर्यादासंरक्षणविचक्षणाः अनाद्यविच्छिन्नसद्गुरु-परम्पराप्राप्तश्रीमद्सीतारामभक्तिभागीरथीविगाहनविमलीकृतमानसाः श्रीमद्रामचरित-मानसराजमरालाः सततं शिशुरूपराघवलालनतत्पराः समस्तप्राच्यप्रतीच्यविद्या-विनोदितविपश्चितः राष्ट्रभाषागीर्वाणगिरामहाकवयः विद्वन्मूर्धन्याः श्रीमद्रामप्रेम-साधनधनधन्याः शास्त्रार्थरसिकशिरोमणयः विशिष्टाद्वैतवादानुवर्तिनः परमहंस-परिव्राजकाचार्यत्रिदण्डी वर्याः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाः प्रस्थानत्रयीभाष्यकाराः श्रीचित्रकूटस्थ-मन्दाकिनीविमलपुलिननिवासिनः श्रीतुलसीपीठाधीश्वराः श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्याः अनन्तश्रीसमलंकृतश्रीश्रीरामभद्राचार्यमहाराजाः विजयतेतराम् ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

वाचस्पति, श्री तुलसी पीठाधीश्वर
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज
तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट, जि. सतना (म.प्र.)

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण, विद्यावारिधि, वाचस्पति परमहंस परिव्राजिकाचार्य, आशुकवि यतिवर्य प्रसथानत्रयी भाष्यकार धर्मचक्रवर्ती अनन्तश्री समलंकृत

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

पूज्यपाद

श्री श्री स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

आविर्भाव

आपका अविर्भाव १४ जनवरी १९५० तदनुसार मकर संक्राति की परम पावन सान्ध्य बेला में वसिष्ठ गोत्रीय उच्च धार्मिक सरयूपारीण ब्राह्मण मिश्र वंश में उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जनपद के पवित्र ग्राम शाडीखुर्द की पावन धरती पर हुआ। सर्वत्र आत्मदर्शन करने वाले हरिभक्त, या मानवता की सेवा करने वाले दानवीर, या अपनी मातृभूमि की रक्षा में प्राण बलिदान करने वाले शूर-वीर योद्धा, देशभक्त, को जन्म का सौभाग्य तो प्रभुकृपा से किसी भी माँ को मिल जाता है। परन्तु भक्त, दाता और निर्भीक तीनों गुणों की संपदा से युक्त बालक को जन्म देने का परम श्रेय अति विशिष्ठ भगवत् कृपा से किसी विरली माँ को ही प्राप्त होता है। अति सुन्दर एवं दिव्य बालस्वरूप आचार्य-चरण को जन्म देने का परम सौभाग्य धर्मशीला माता श्रीमती शची देवी और पिताश्री का गौरव पं० श्रीराजदेव मिश्रजी को प्राप्त हुआ।

आपने शैशव अवस्था में ही अपने रूप, लावण्य एवं मार्धुय से सभी परिवार एवं परिजनों को मोहित कर दिया। आप की बाल क्रीड़ाएँ अद्भुत थी। आपके श्वेतकमल समान सुन्दर मुख मण्डल पर बिखरी मधुर मुस्कान, हर देखने वाले को सौम्यता का प्रसाद बाँटती थी। आपका विस्तृत एवं तेजस्वी ललाट, आपके अपार शस्त्रीय ज्ञानी तथा त्रिकालदर्शी होने का पूर्व संकेत देता था। आपका प्रथम दर्शन मन को शीतलता प्रदान करता था। आपके कमल समान नयन उन्मुक्त हास्यपूर्ण मधुर चितवन चंचल बाल क्रीड़ाओं की चर्चा शीघ्र ही किसी महापुरुष के प्राकट्य की शुभ सूचना की भान्ति दूर-दूर तक फैल गई, और यह धारणा बन गई कि

यह बालक असाधारण है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की कहावत को आपने चरितार्थ किया।

भगवत् इच्छा

अपने प्रिय भक्त को सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रखने के लिए विधाता ने आचार्य वर के लिए कोई और ही रचना कर रखी थी। जन्म के दो महीने बाद ही नवजात शिशु की कोमल आँखों को रोहुआ रोग रूपी राहू ने तिरोहित कर दिया। आचार्य प्रवर के चर्मनेत्र बन्द हो गए। यह हृदय विदारक दुर्घटना प्रियजनों को अभिशाप लगी, परन्तु नवजात बालक के लिए यह वरदान सिद्ध हुई। अब तो इस नन्हे शिशु के मन-दर्पण पर परमात्मा के अतिरिक्त जगत् के किसी भी अन्य प्रपञ्च के प्रतिबिम्बित होने का कोई अवसर ही नहीं था। आपको दिव्य प्रज्ञा-चक्षु प्राप्त हो गए। आचार्य प्रवर ने भगवत् प्रदत्त अपनी इस अन्तर्मुखता का भरपूर उचित उपयोग किया। अब तो दिन-रात परमात्मा ही आपके चिन्तन, मनन और ध्यान का विषय बन गए।

आरम्भिक शिक्षा

अन्तर्मुखता के परिणामस्वरूप आपमें दिव्य मेधाशक्ति और अद्भुत स्मृति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कठिन से कठिन श्लोक, कवित्त, छन्द, सवैया आदि आपको एक बार सुनकर सहज कण्ठस्थ हो जाते थे। मात्र पांच वर्ष की आयु में आचार्यश्री ने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता तथा मात्र आठ वर्ष की शैशव अवस्था में पूज्य पितामह श्रीयुत् सूर्यबली मिश्र जी के प्रयासों से गोस्वामी तुलसीदास जी रचित सम्पूर्ण रामचरितमानस क्रमबद्ध पंक्ति, संख्या सहित कण्ठस्थ कर ली थी। आपके पूज्य पितामह आपको खेत की मेड़ पर बिठाकर आपको एक-एक बार में श्रीमानस के पचास पचास दोहों की आवृत्ति करा देते थे। हे महामनीषी, आप उन सम्पूर्ण पचास दोहों को उसी प्रकार पंक्ति क्रम संख्या सहित कण्ठस्थ कर लेते थे। अब आप अधिकृत रूप से श्रीरामचरितमानससरोवर के राजहंस बन कर श्रीसीता-राम के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और ध्यान में तन्मय हो गए।

उपनयन एवं दीक्षा

आपका पूर्वाश्रम का नाम 'गिरिधर-मिश्र' था। इसलिए गिरिधर जैसा साहस, भावुकता, क्रान्तिकारी स्वभाव, रसिकता एवं भविष्य निश्चय की

दृढ़ता तथा निःसर्ग सिद्ध काव्य प्रतिभा इनके स्वभाविक गुण बन गये। बचपन में ही बालक गिरिधर लाल ने छोटी-छोटी कविताएँ करनी प्रारम्भ कर दी थीं। २४ जून १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन 'अष्टवर्ष ब्राह्माणमुपनयीत' इस श्रुति-वचन के अनुसार आचार्यश्री का वैदिक परम्परापूर्वक उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ ही तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् सकलशास्त्र-मर्मज्ञ पं० श्रीईश्वरदास जी महाराज जो अवध-जानकीघाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८ श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज के परम कृपापात्र थे, इन्हें राम मन्त्र की दीक्षा भी दे दी।

उच्च अध्ययन

आपमें श्रीरामचरितमानस एवं गीताजी के कण्ठस्थीकरण के पश्चात् संस्कृत में उच्च अध्ययन की तीव्र लालसा जागृत हुई और स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा सम्पन्न करके आप विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी आ गये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की १९७३ शास्त्री परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया एवं १९७६ की आचार्य की परीक्षा में समस्त विश्वविद्यालय में छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर पाँच स्वर्ण पदक तथा एक रजत पदक प्राप्त किया। वाक्पटुता एवं शास्त्रीय प्रतिभा के धनी होने के कारण आचार्यश्री ने अखिल भारतीय संस्कृत अधिवेशन में सांख्य, न्याय, व्याकरण, श्लोकान्त्याक्षरी तथा समस्यापूर्ति में पाँच पुरस्कार प्राप्त किये, एवं उत्तर प्रदेश को १९७४ की 'चलवैजयन्ती' प्रथम पुरस्कार दिलवाया। १९७५ में अखिल भारतीय संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी से कुलाधिपति 'स्वर्ण पदक' प्राप्त किया। **इसी प्रकार आचार्यचरणों ने शास्त्रार्थों एवं भिन्न-भिन्न शैक्षणिक प्रतियोगिताओं में अनेक शील्ड, कप एवं महत्वपूर्ण शैक्षणिक पुरस्कार प्राप्त किये।** १९७६ वाराणसी साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय में समायोजित शास्त्रार्थ आचार्यचरण प्रतिभा का एक रोमांचक परीक्षण सिद्ध हुआ। इसमें आचार्य अन्तिम वर्ष के छात्र, प्रत्युत्पन्न मूर्ति, शास्त्रार्थ-कुशल, श्री गिरिधर मिश्र ने 'अधातु परिष्कार' पर पचास विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं शास्त्रीय युक्तियों से अभिभूत करके निरुत्तर करते हुए सिंहगर्जनपूर्वक तत्कालीन विद्वान् मूर्धन्यों को परास्त किया था। पूज्य आचार्यश्री ने सं०वि०वि० के व्याकरण विभागाध्यक्ष

पं० श्री रामप्रसाद त्रिपाठी जी से भाष्यान्त व्याकरण की गहनतम शिक्षा प्राप्त की एवं उन्हीं की सन्निद्धि में बैठकर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों में भी प्रतिभा ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं 'अध्यात्मरामायणे अपणिनीयप्रयोगाणां विमर्श:' विषय पर अनुसन्धान करके १९८१ में विद्यावारीधि (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। **अनन्तर ''अष्टाध्याय्याः प्रतिसूत्रं शाब्दबोध समीक्षा'' इस विषय पर दो हजार पृष्ठों का दिव्य शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके आचार्य चरणों ने शैक्षणिक जगत् की सर्वोत्कृष्ट अलंकरण उपाधि वाचस्पति'' (Dlit) प्राप्त की।**

विरक्त दीक्षा

मानस की माधुरी एवं भागवतादि सद्ग्रन्थों के अनुशीलन ने आचार्य-चरण को पूर्व से ही श्री सीतारामचरणानुरागी बना ही दिया था। अब १९ नवम्बर १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम-पावन दिवस को श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर आचार्यश्री ने एक और स्वर्ण सौरभ-योग उपस्थित कर दिया। पूर्वाश्रम के डॉ० गिरिधर मिश्र अब श्रीरामभद्रदास नाम से समलंकृत हो गये।

जगद्गुरु उपाधि

आपने १९८७ में श्रीचित्रकूट धाम में श्रीतुलसीपीठ की स्थापना की। उसी समय वहाँ के सभी सन्त-महान्तों के द्वारा आपको श्रीतुलसीपीठाधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया और ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के परम-पावन दिन वि० सम्वत् २०४५ तदनुसार २४ जून १९८८ को वाराणसी में आचार्यश्री का काशी विद्वत् परिषद् एवं अन्य सन्तमहान्त विद्वानों द्वारा चित्रकूट श्रीतुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पर पर विधिवत अभिषेक किया गया एवं ३ फरवरी १९८९ को प्रयाग महाकुम्भ पर्व पर समागत सभी श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ों के श्रीमहन्तों चतु:सम्प्रदाय एवं सभी खालसों तथा सन्तों द्वारा चित्रकूट सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज को सर्वसम्मति से समर्थनपूर्वक अभिनन्दित किया।

विलक्षणता

आपके व्यक्तित्व में अद्भुत विलक्षणता है। जिनमें कुछ उल्लेखनीय हैं कोई भी विषय आपको एक ही बार सुनकर कण्ठस्थ हो जाता है और वह कभी विस्मृत नहीं होता। इसी विशेषता के परिणामस्वरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

जी ने समस्त तुलसी साहित्य अर्थात् तुलसीदास जी के बारहों ग्रन्थ, सम्पूर्ण रामचरितमानस, द्वादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, भागवद्गीता, शाण्डिल्य सूत्र, बाल्मीकीयरामायण व समस्त आर्य ग्रन्थों के सभी उपयोगी प्रमुख अंश हस्तामलकवत् कण्ठस्थ कर लिये। आचार्यश्री हिन्दी एवं संस्कृत के आशुकवि होने के कारण समर्थ रचनाएँ भी करते हैं। वसिष्ठ गोत्र में जन्म लेने के कारण आचार्यवर्य श्रीराघवेन्द्र की वात्सल्य भाव से उपासना करते हैं। आज भी उनकी सेवा में शिशु रूप में श्री राघव अपने समस्त परिकर खिलौने के साथ विराजमान रहते हैं। आचार्यवर्य की मौलिक विशेषता यह है कि इतने बड़े पद को अलंकृत करते हुए भी आपका स्वभाव निरन्तर निरहंकार, सरल तथा मधुर है। विनय, करुणा, श्रीराम-प्रेम, सच्चरित्रता आदि अलौकिक गुण उनके सन्तत्त्व को ख्यापित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एकबार ही उनके पास आकर उनका अपना बन जाता है। हे भारतीय संस्कृति के रक्षक ! **आप अपनी विलक्षणकथा शैली से श्रोताओं को विभोर कर देते हैं।** माँ सरस्वती की आप पर असीम कृपा है। आप वेद-वेदान्त, उपनिषद्, दर्शन, काव्यशास्त्र व अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थों पर जितना अधिकारपूर्ण प्रवचन करते हैं उतना ही दिव्य प्रवचन भगवान् श्रीकृष्ण की वाङ्मय मूर्ति महापुराण **श्रीमद्भागवत पर भी करते हैं।** आप सरलता एवं त्याग की दिव्य मूर्ति हैं। राष्ट्र के प्रति आपकी सत्यनिष्ठ स्पष्टवादिता एवं विचारों में निर्भीकता जन-जन के लिए प्रेरणादायक है। आपके दिव्य प्रवचनों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी तो प्रवाहित होती है, साथ ही राष्ट्र का सागर भी उमड़ता है। जिसे आप अपनी सहज परन्तु सशक्त अभिव्यक्ति की गागर में भर कर अपने श्रद्धालु श्रोताओं को अवगाहन कराते रहते हैं।

आपका सामीप्य प्राप्त हो जाने के बाद जीव कृत्य-कृत्य हो जाता है। धन्य हैं वे माता-पिता जिन्होंने ऐसे 'पुत्ररत्न' को जन्म दिया। धन्य हैं वे सद्गुरु जिन्होंने ऐसा भागवत् रत्नाकर समाज की दिया। हे श्रेष्ठ सन्त शिरोमणि ! हम सब भक्तगण आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गौरवान्वित हैं।

साहित्य सृजन

आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी एवं संस्कृत के अनेक आयामों को महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपादान भेंट किये। काव्य, लेख, निबन्ध, प्रवचन संग्रह एवं दर्शन क्षेत्रों में आचार्यश्री की मौलिक रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अपने व्यक्तित्व, कृतित्व से श्रीराम-प्रेम एवं सनातन धर्म के चतुर्दिक प्रचार व प्रसार के द्वारा सहस्राधिक दिग्भ्रान्त नर-नारियों को सनातन धर्मपीयूष से जीवनदान करते हुए अपनी यश:सुरभि से भारतीय इतिहास वाटिका को सौरभान्वित कर रहे हैं। तब कहना पड़ता है कि—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।।

❀ ❀ ❀

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु।।

धर्माचार्य परम्परा :–

भाष्यकार !

प्राचीन काल में धर्माचार्यों की यह परम्परा रही है कि वही व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था, जो उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वैदुष्यपूर्ण वैदिक भाष्य प्रस्तुत करता था। जिसे हम 'प्रस्थानत्रयी' भाष्य कहते हैं, जैसे शंकराचार्य आदि। आचार्यप्रवर ने इसी परम्परा का पालन करते हुए सर्वप्रथम नारदभक्तिसूत्र पर "श्रीराघवकृपाभाष्यम्" नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की। उसका लोकार्पण १७ मार्च १९९२ को तत्कालीन उप राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ।

पूज्य आचार्यचरण के द्वारा रचित **'अरुन्धती महाकाव्य' का समर्पण** समारोह दिनांक ७ जुलाई ९४ को भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार आचार्यचरणों ने एकादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर रामानन्दीय श्रीवैष्णव सिद्धान्तानुसार भाष्य लेखन सम्पन्न करके विशिष्टाद्वैत अपनी श्रुतिसम्मत जगद्गुरुत्व को प्रमाणित करके इस शताब्दी का कीर्तिमान स्थापित किया है।

आप विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का विश्वविश्रुत ध्वज फहराते हुए सजगता एवं जागरूकता से भारतीयधर्माचार्यों का कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्यश्री के प्रकाशित ग्रन्थ

१. मुकुन्दस्मरणम् (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग–१–२
२. भरत महिमा
३. मानस में तापस प्रसंग
४. परम बड़भागी जटायु
५. काका बिदुर (हिन्दी खण्ड काव्य)
६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य)
७. जानकी-कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य)
८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत
९. अरुन्धती (हिन्दी महाकाव्य)
१०. राघव गीत-गुञ्जन (गीत काव्य)
११. भक्ति-गीता सुधा (गीत काव्य)
१२. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ)
१३. तुलसी साहित्य में कृष्ण-कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ)
१४. सनातन धर्म विग्रह-स्वरूपा गौ माता
१५. मानस में सुमित्रा
१६. भक्ति गीत सुधा (गीत काव्य)
१७. श्रीनारदभक्तिसूत्रेषु राघवकृपाभाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)
१८. श्री हनुमान चालीसा (महावीरी व्याख्या)
१९. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
२०. आजादचन्द्रशेखरचरितम् (खण्डकाव्य) संस्कृत
२१. प्रभु करि कृपा पाँवरि दीन्ही
२२. राघवाभ्युदयम् (संस्कृत नाटक)

आचार्यश्री के शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

१. हनुमत्कौतुक (हिन्दी खण्ड काव्य)
२. संस्कृत शतकावली (क) आर्याशतकम् (ख) सीताशतकम् (ग) राघवेन्द्रशतकम् (घ) मन्मथारिशतकम् (ङ) चण्डिशतकम् (च) गणपतिशतकम् (छ) चित्रकूटशतकम् (ज) राघवचरणचिह्नशतकम्
३. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
४. संस्कृत गीत कुसुमाञ्जलि
५. संस्कृत प्रार्थनाञ्जलि
६. कवित्त भाण्डागारम् (हिन्दी)

●

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

केनोपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-कवितार्किकचूडामणि-वाचस्पति-
जगद्गुरुरामानन्दाचार्य-स्वामि-रामभद्राचार्य-प्रणीतं,
श्रीमज्जगद्गुरु-रामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि-
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकश्रीराघवकृपाभाष्यम् ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।
।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

केनोपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

मंगलाचरणम्

सुरनरमुनिवरमृग्यं कौसल्या किमपि फलं फलति ।
तल्लालयति सुमित्रा प्रकायमास्वादयति सीता ।।१।।

श्रीभानुमद् दुहितृ कल्पलताप्रसूति–
राकूतिधर्मगुणमञ्जुलपुष्पशाली ।
सीतालताविलसितो जनताभिरामो,
रामाभिधो जयति जैत्रतरुस्तमालः ।।२।।

तं तमालशुभगं गम्भीरया बालकोचितगिरा सुधामुचा
रञ्जयन्तमनिशं नृपाङ्गणं राघवं मनसि शीलये शिशुम् ।।३।।

केनेदं धनुरानतं बलवता भग्नञ्च केनेश तु
केनेदं शकलीकृतं कृतिमता क्षिप्तञ्च केनावनौ
एवं रोषकरालनेत्रभृकुटिज्वालावलीढं नृपम्
पृच्छन्तं परिसान्त्वयन् भृगुवरं श्रीराघवस्त्रायताम् ।।४।।

यत्पादाम्बुरुहध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः ।
कृतकृत्योऽस्मि तं वन्दे रामानन्दं जगद्गुरुम् ।।५।।

नत्वा श्रीतुलसीदासं रामानन्दाश्रितान् सतः ।
केनोपनिषदो भाष्यं कुर्वे सीतापतेर्मुदे ।।६।।

अथ श्रीमदाद्यजगद्गुरुरामानन्दाचार्यचरणकुशेशयपरागानुरागविमलीकृताशयेन श्रीचित्रकूटबिहारिश्रीराघवललितलीलाकीलाललालितचेतसा तुलसीपीठाधिपतिना जगद्गुरूश्रीरामानन्दाचार्यपदमुद्वहता स्वामिरामभद्राचार्यकृतिना मया श्रीसीतारामपरितोषाय श्रीरामानन्दसम्प्रदायपरम्पराप्राप्तविशिष्टाद्वैतवादमनुसृत्य नातिदीर्घलघुकायं निरस्तसमस्तप्रतिपक्षव्यलीकवादप्रत्यवायं केनोपनिषदि श्रीराघवकृपाभिधं भाष्यं भाषितुमुपक्रमे ।

केनोपनिषदियं ब्रह्ममीमांसाप्रत्तिपादिकोपनिषत्सु मुख्यतमं स्थानमादत्ते । एषा नाम सामवेदीयतलवकारब्राह्मणान्तगर्तनवमाध्याय: खण्डत्रयात्मक: । तत्त त्सामवेदीय-तलवकारब्राह्मणे पूर्वेष्वष्टस्वध्यायेषु कर्मोपासनयो: साधनसामग्रीवर्णनम् । तस्य चरमेऽध्याये ब्रह्ममीमांसावर्णनं तस्मादियमुपनिषद् कथ्यते ।

वेदस्य ज्ञानकाण्डश्रुतीनां हि वैश्वजनीनी उपनिषत् संज्ञा । केनशब्देनास्या: प्रथममन्त्रस्य प्रारम्भादियमपि केनोपनिषदिति प्रसिद्धिमयासीत् । अस्याश्चतुर्षु शकलेषु ब्रह्ममीमांसा साटोपमुपबृंहिता । तत्र प्रथममुपनिषद्पारम्परीसमनुरोधत: शान्तिपाठव्याख्यानम् ।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ मम अङ्गानि वाक् प्राण: चक्षु: श्रोत्रम् च सर्वाणि इन्द्रियाणि अथो बलम् आप्यायन्तु, सर्वम् औपनिषदम् ब्रह्म, अहम् मा निराकुर्याम्, ब्रह्म मा मा निराकरोत्, अनिराकरणम् अस्तु मे अनिराकरणम् अस्तु, उपनिषत्सु ये धर्मा: ते तदात्मनि निरते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: इत्यन्वय: ।

ॐ इति सम्बोधनात्मकं भगन्नाम, तथा च अवति तर्पयति भक्तानभीष्टकामवरै: य: स: ॐ तत्साम्बुद्धौ हे ॐ ! हे भक्तजनतर्पक ! मम साधकस्य त्वत्पादपद्मं प्रपद्यमानस्य, अङ्गानि चरणजानूरूकटिवक्ष:पाणिग्रीवावदनशिर:प्रभृतीनि । वाक् वाणी तदधिष्ठातृदेवता च, प्राण: प्राणिति येन तथाभूत: प्राणधारकशक्त्यवच्छिन्नदैवतविशेष:, चक्षु: चष्टे विलोकयति येन तथाभूतम् । चक्षिङ्व्यक्तायां वाचि इत्यस्मात् औणादिक

उण् प्रत्ययः धातूनामनेकार्थकत्वात् एतस्य दर्शनार्थत्वाङ्गीकारे न दोषः । श्रोत्रम्, श्रवणम्, च तथा सर्वाणि निखिलानि, इन्द्रियाणि सकलेन्द्रियदैवतानि इति भावः । ननु सर्वाणीन्द्रियाणीत्युक्तावेव वाक्चक्षुःश्रोत्राणामिन्द्रियतया गतार्थत्वात् पुनस्तदुपादानं पृथकत्वेन किमभिप्रायकमिति चेत्, ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन इतरेन्द्रियापेक्षया तेषां सविशेषमहत्वद्योतनार्थम् । अथो, आनन्तर्यार्थमव्ययमेतत्, बलम् प्राणशक्तिः साचात्र कामरागविवर्जिता आत्मबलापरपर्याया गृह्यते **बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्** (गीता ७-११) इति स्मृतेः । एवमेव अङ्गानि इन्द्रियप्राणबलाधिष्ठातृदैवतानि अधिष्ठानानि च तेषाम्, आप्यायन्तु पुष्टानि सन्तु । ननु ज्ञानकाण्डीयविचारणायां पदे पदे शरीरस्य तदङ्गानां च नश्वरता ख्यापिता, तत्र ब्रह्मविचारे आत्मानात्मविमर्शे व्यवहारस्य मिथ्यात्व-निश्चये तन्निबन्धनस्य शरीरस्यापि तथात्वेन प्रत्यये । कथं तर्हि ब्रह्मविचारणासर्वस्वोपनिषदि शरीरतदङ्गसम्पोषणाभिलाषनिबन्धनोऽयं शान्तिपाठः ? इति चेदुच्यते-ममता परित्यागाय तत्र शरीरक्षणभङ्गुरता निश्चयः समपेक्षते, परं समेषां ज्ञानवैराग्यभक्तिप्रमुखानां भगवत्प्राप्तिसाधनानां मूलद्वारतया शरीरस्य तदङ्गानां च सम्पोषणमपि नितरामपेक्षते नहि पुनरन्तरेण तनुं भगवत्प्राप्तिसाधनानि शक्यन्ते समनुष्ठातुम् । यथा यानमन्तरा नहि कोऽपि प्रभवति सहस्राधिकयोजनपर्यन्तां सुदीर्घयात्रां विधातुम् । तस्यां हि यानस्य प्रमुखभूमिका निभालकत्वात् । तस्मात् तिष्ठतु नाम निरस्तममत्वज्ञानपरायणानां कृते देहानित्यत्वधिष्णा, परञ्च परमेश्वरावाप्तिसाधनबेलायां शरीरारोग्यं सुतरामपेक्षितम् अतः प्राहुरायुर्वेदविशारदाः **धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्** वाग्भट्टोऽपि उभयविधस्वास्थ्यलक्षणं निगदन् प्राह—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधियते ।।

अत्र पूर्वार्धेन बहिरङ्गस्वास्थ्यं संल्लक्ष्य चरमार्धेन तदन्तरङ्गलक्षण मलक्षीति व्याचक्षते विनश्चितः । अथ प्रकृतमनुसरामः सर्वम्, सर्वत्रव्याप्तम् यद्वा सर्वमिति सप्तम्यन्तप्रतिरूपकं तथा हि–सर्वस्मिन् इति विग्रहे ङि विभक्तेः **सुपां सुलुक्** पा.अ. ७-१-३९ इत्यनेन सु आदेशे तस्यैव "अतोऽम्" इत्यनेन अमि पूर्वरूपे सर्वम्, उपनिषत्सु प्रसिद्धम् औपनिषदं **शेषे** इत्यनेन अण् प्रत्ययः, तथा च सर्वस्मिन् चराचरे उपनिषत् प्रसिद्धं ब्रह्मवर्धनशीलं परमात्मतत्वं विराजते इति वाक्यार्थः । अहम्, बह्मातिरिक्तसत्ताकसाधकः, ब्रह्म उपनिषत्प्रसिद्धं परमात्मतत्वं मा निराकुर्यां तत्पदाम्भोजविमुखो भूत्वा मा तिरस्कारविषयं कुर्याम् इति भावः, ब्रह्म स्वभक्तवर्धकं परमेश्वरतत्वं मा माम् स्वशरणागतं **त्वामोद्वितीयायाः** इत्यनेन मां शब्दस्य मादेशः,

मा नहि निराकरोत् मा तिरस्कारविषयं करोतु **व्यत्ययो बहुलम्** पा.अ.३-१-८५ इत्यनेन लोडर्थे लङ्लकारः । अनिराकरणम्, मम परमात्मनश्च अन्योन्यश्च अनिराकरणं निराकरणाभावः अस्तु, भवतु, उभावप्यन्योऽन्यं सम्मानयन्तौ मा तिरस्कारविषयं कुरुतां इति हार्दम् । तदेव द्रढयन्नाह—मे मम साधकस्य अनिराकरणम्, निराकरणभिन्नं निजचरणारविन्दसन्निधौ स्वीकरणम् इति भावः, अस्तु भूयात् । उपनिषत्सु, साक्षात्भगवत्प्रतिपादनपरासु श्रुतिषु ये, यावन्तः धर्माः भगवच्चरणारविन्दप्राप्त्युपायभूताः ते धर्माः, प्रपत्तिलक्षणाः तदात्मनि स चासौ आत्मा इति तदात्मा श्रुतिप्रसिद्धपरमात्मरूपः तस्मिन् तदात्मनि, रते निसर्गतः कृतानुरागे मयि, परमात्मप्रपन्ने साधके सन्तु विलसन्तु, ते मयि सन्तु तमेवार्थं प्रढयितुं भूयोऽनुवादः । ॐ, हे जनतापहारिन् ! शान्तिः शान्तिः शान्तिः त्वत्कृपाकादम्बिन्या त्वां शरणमुपेयुषां तापत्रयोपशमनं भूयात् इति प्रार्थयमानः केनोपनिषत्प्रवचनमुपक्रमते ॥श्रीः॥

।। प्रथमखण्डः ।।

गुरुशिष्यसम्वादपरम्परया ब्रह्ममीमांसा प्रवर्तते, तया च तत्वबोधे जिज्ञासवोऽल्पीयसायासेन पारे शास्त्रसागरं व्रजन्तीति गुरुशिष्यसम्वादमवतारयति—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।१।।

केन इषितम् प्रेषितम् मनः पतति, केन युक्तः प्रथमः प्राणः प्रैति, केन इषिताम् इमाम् वाचम् वदन्ति, कः देवः चक्षुः श्रोत्रम् उ युनक्ति इत्यन्वयः ।

आचार्यवान् पुरुषो वेद तद् विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः **श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** इत्यादि श्रुत्युरोधेन ब्रह्मविद्याम् आचार्यायत्तां मत्वा तृषार्तकरीव सरोवरं पाणौ समिधौ गृहीत्वा ब्रह्मनिष्ठमाचार्यमुपसृत्य प्रणिपत्य जिज्ञासुशिष्यः प्राञ्जलिः प्रणतः पृच्छति केन इत्यादि, हे देव ! केन किन्नामकेन, इषित्रा इषितम्, लब्धानुशासनं प्रेषितम् स्वसन्निधिं प्रापितं, मनः सङ्कल्पात्मतकम् अन्तःकरणं पतति, विषयेषु इति शेषः । यथा पतङ्गः दीपप्रभां दृष्ट्वा विचारमन्तरेणैव बुभुक्षया तामाश्रयते तथैव मनोऽप्येतत् सहसैव परिणाममनपेक्ष्य विषयान् भोग्यतया समालम्बत इति हार्दम् । एवमेव केन किमभिधेन कर्माध्यक्षेण युक्तः नियुक्तः प्रथमः सर्वेन्द्रियापेक्षया श्रेष्ठः प्राणः जीवनधारक श्वासविशेषः प्रैति पञ्चधाविभक्तः शरीरे सञ्चरति यद्वा प्रथमः दशेन्द्रिय-चतुरन्तःकरणपञ्चतन्मात्रा पञ्चमहाभूतपञ्चवायुनामपि प्राथम्येन नियामकः प्राणः प्राणानामिति शेषः, प्राणन्ति

मुखनासिकादिद्वारेण पञ्चवायवो येन तथाविधः प्राणो जीवात्मा प्रैति केन दत्तगतिः, कः प्रतिशरीरं निष्प्रत्यूहं गतागतं करोतीति भावः । एवमेव केन किं संज्ञेन प्रेरकेण, ईषिताम् लब्धप्रेरणां वाचं सरस्वतीं वदन्ति व्याहरन्ति, चेतनामन्तरेण जाड्यतया व्यवहारासम्भवात् । तथा कः किमभिधानः देवः, दैवीं शक्तिं श्रयमाणः चक्षुः श्रोत्रम्, नेत्रं श्रवणेन्द्रियमुपलक्षणतया सकलानि हृषीकाणि, उ निश्चयेन, युनक्ति स्व स्व विषयेषु नियुक्तानि करोति इति भावः । जडीभूतस्य मनसः को नाम प्रेषयिता प्रेरको वा, प्रेषणं विना तस्य विषयभोगासामर्थ्यात् एवं सर्वत्रसञ्चरणशीलस्य प्राणस्य चेतनमन्तरेण तत्तच्छरीरेषु केन नियोजनं सम्भवम् । इत्थमेव कर्मेन्द्रियतया सर्वथा जडीकृतायां वाचि लोकार्थविषयकबोधजनकताभावात् केन समर्पितार्थां तां वदन्तो जनाः व्यवहरन्ति । एवमेव सकलेन्द्रियाणि कुतश्चेतनां लब्ध्वा स्वकार्याणि कर्तुं पारयन्तीति चतुर्भिः प्रश्नैः चतुष्पादविभूतिकं श्रीरामाभिधानं ब्रह्म जिज्ञासते स्म सच्छिश्यः ।।श्रीः।।

एवं जिज्ञासमानं सकलसाधनसम्पन्नं शान्तं दान्तं विनीतमुपनीतं सच्छिश्यं प्रति सद्गुरुः तदेव परमतत्वं विशिष्टाद्वैतं यत्किञ्चित्तया व्याख्यातुं समीहमानः पूर्वं प्रागुक्तानां बहिरन्तःकरणप्राणानां चेतनास्रोतस्त्वेन तं परमात्मानं समभिधत्ते श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिना ।

श्रोतस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।२।।

यत् मनसः मनः (यः) प्राणस्य प्राणः (यत्) श्रोत्रस्य श्रोत्रम् (यत्) वाचः वाचम् (यत्) चक्षुसः चक्षुः सः ह धीराः अतिमुच्य अस्मात् लोकात् प्रेत्य अमृताः भवन्ति, इत्यन्वयः ।

अस्मिन् मन्त्रे वाक्यद्वयं प्रथमं पूर्वमन्त्रकृत प्रश्नचतुष्टयोत्तररूपं, द्वितीयं तल्लक्ष्यप्राप्तिप्रयत्नप्रवर्तकम् । जिज्ञासुं प्रपन्नं शिष्यं प्रति प्राहाचार्यः– वत्स ! तव चतस्रोऽपि जिज्ञासाः समीचीनाः सोपपत्तिकाश्च । भूतार्थमेवैतत् यदन्तःकरणं बहिःकरणं प्राणाः इदं सर्वमपि क्षेत्रसंघातं स्वभावतो जडम् । एतेषु कतममपि स्वाधिष्ठानचैतन्यमन्तरेण मनाक् स्पन्दितुमपि न पारयति । यथा सङ्कलितसकलोपकरणं यानं चालकं विना तिलमात्रमपि चलितुं न प्रभवति । यथैवानुपपत्या चालकमपश्यन्नपि चलता यानेन तं निश्चिनोति तथैव जडमपि मनो व्यवहारे गृहीतसङ्कल्पं निरीक्ष्य, जडमपि प्राणं सर्वत्र निरवरोधं प्रयान्तं समीक्ष्य, अर्थहीनाभिवाचं परिकलितसर्वार्थां व्याहरन्तुं विभाव्य, निर्ज्योतिरपि चक्षुः जगज्ज्योतिसाधनं समवलोक्य, अशब्दमपि श्रोत्रं लब्धगगनगुणं श्रवणकरणं विचार्य, किमपि विशिष्टाद्वैततत्वं परब्रह्म मनसोऽपि मननसाधनं प्रेषयितारं

प्राणस्यापि प्रयोक्तारं वाचेऽपि समभिप्रेतार्थानां समर्पयितारं चक्षुश्श्रोत्रयोरपि स्वस्वविषयग्रहणे नियोक्तारम् औपनिषदं ब्रह्म विनिश्चिनु इति हि मन्त्रस्य प्रथमवाक्यार्थः । तथा हि यत् सर्वोपनिषद् वेद्यं, मनसः संकल्पप्रधानान्तःकरणस्य, मनः मननसाधनरूपमादिकारणम् अभिन्ननिमित्तोपादानकारणमितिभावः, यः सर्वाभौमसत्ताकः प्राणस्य, पञ्चधाविभक्त-शरीरसञ्चारिवायुविशेषस्य प्राणः, प्राणयिता जीवात्माख्यः यत् श्रुतिप्रसिद्धं श्रोत्रस्य, श्रवणन्द्रियस्य श्रोत्रम्, कारणभूतं तस्मादेवचेतनां प्राप्य श्रवणेन्द्रियं श्रवणायोपकल्पत इति भावः । यत् चराचरं व्याप्तं, वाचः, वाण्याः वाचम्, कारणभूतं, यद्यपि वाक्शब्दः नित्यस्त्रीलिङ्गः प्रथमैकवचनः हलन्तश्च तथापि वाचमिति नपुंसकलिङ्गे प्रथमैकवचनाजन्तस्यानुरोधात् आर्षत्वात् समाधेयः, यद्वा **षष्ठीयुक्तस्छन्दसि** वा.पा.अ.१-४-९ इत्यत्र **बहुलं छन्दसि** पा.अ. २-४३९ इत्यस्यानुवर्तनात् पतिशब्दमृतेऽपि षष्ठीसमासः विभक्तेरलुक् समाहारद्वन्द्वाभावेऽपि **''द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे** ''पा.अ. ५-४-१०६'' इत्यनेन अन्यत्र प्रवृत्तिलक्षणबाहुलकबलेन टच् प्रत्ययः क्लीवता च । यद्वा वाचः इदं वाचम् वाक्कारणभूतमितिभावः **''तस्येदम्''** इत्यनेन षष्ठ्यन्त वाक् शब्दात् अण् प्रत्ययः इदमर्थस्य कारणभूतब्रह्मविशेषणतया तदनुरोधेन क्लीवता । यद्वा वागेव च वाचं आकृतिगणत्वात्, **प्रज्ञा-श्रद्धार्चाभ्यो णः** पा.अ. ५-२-१०१ इत्यनेन स्वार्थे ण प्रत्ययः, सामान्यनपुंसकत्वात् क्लीवता। केचन वाचम् इति द्वितीयान्तं मत्वा तदनुरोधेन वदन्ति इति क्रियामध्याहरन्ति वाचो वाचं वदन्ति इति हि वाक्यार्थः । तदनुचितं वाक्यभेदकल्पनाक्रियाकर्त्रध्याहारकल्पनादि-गौरवदोषग्रस्तत्वात् । यत्तु केचन वाचमिति द्वितीययान्तं मत्वा प्राणः इति प्रथमानुरोधेन इदमपि प्रथमान्तत्वेन विपरिणमयितुं समीहन्ते तदपि पाटलपुष्पयूथमध्यमतस्य पीतपुष्पस्य परिणाम इव हास्यास्पदमेव साहसं, प्रथमान्तवाचकतया द्वितीया विभेक्तेरपि श्रुतावर्थाप्रामाण्यापत्तेः अतो प्रागुदाहतानि प्रथमापरकतया चत्वारि सामाधानान्येव ज्यांयासीति विरम्यते । यत् चर्चितचरं चक्षुषः, नेत्रस्य उपलक्षणतया पञ्चेन्द्रियाणामपि ज्ञानभाजां चक्षुः नेत्रम्, अन्येषां पक्षे कारणम् अर्थात् नेत्रस्य नेत्रं श्रवणस्य श्रवणं रसनायाः रसना घ्राणस्य घ्राणः त्वचस्त्वगिति विवेकः, सः स एव मनोऽधितिष्ठं चेतनघनः पञ्चैन्द्रियैः सह आत्मना मनोयोजयन् तन्माध्यमेन पञ्चानामपि विषयाणामनुभवं कारयति, स एव प्राणं प्रेरयन् तं प्रतिशरीरं गन्तुं प्रणुदति, स एव वाचे विवक्षितार्थान् समर्प्य तामर्थवतीं वक्तुं प्रेरयति स एव देवः रूपसाक्षात्कारे चक्षुः, शब्दसाक्षात्कारे च श्रोत्रं विनियुंक्ते इति तात्पर्यम् । ननु एतस्मिन् उत्तरे आपातरमणीयता उताहो कश्चन निरत्ययः प्रत्ययः? इत्यपेक्षायामाह– अयं निश्चयार्थो निपातः अर्थात् पुरोदितं व्याख्यानं विनिश्चयेनावोचम् न तु यथाकथंचित् पुस्तकानि पठित्वा कुतश्चिच्छ्रुत्वा वा यच्छ्रुतौ

गुरुमुखात् समश्रावि तदेव सुदीर्घतपसा समन्वभावि तदेव हि पृच्छते तेन्यगादि, असावेवहार्थः धीराः, द्वन्द्वसहिष्णवः अतिमुच्य, अतितरां प्रारब्धक्रियमाणानागतबन्धनेभ्यो मुक्ताः भूत्वा, यद्वा अतिमुच्य पूर्वं व्याख्यातं तं परमात्मानम् अतिमुच्य स्वकीयमनोमन्दिरे सम्प्रतिष्ठाय अस्मात्, गर्मबन्धनरूपात् लोकात् दुरन्तपारात् संसारकूपारात् प्रेत्य, प्रकर्षेण ससम्मानं साकेतलोकं गत्वा, अमृता, मरणधर्मभिन्नाः भवन्ति, यद्वा मृतं मरणं प्राणवियोगरूपं न विद्यते तदेषाम् इत्यमृताः प्राणवियोगवर्जिताः, दासभूतानां नित्यपरिकरभावभाजां जीवात्मनां खलु प्राणो भगवानेव तस्मात्ते कदापि न वियुज्यन्त इति हि मन्त्रार्थः ।।श्रीः।।

ननु यद्ब्रह्म तावत् समस्कानां समस्तेन्द्रियाणां कारणमवोचः, यच्च मनोमन्दिरे निधाय धीराः मरणधर्महिताः भवन्तीत्यात्थः तद्ब्रह्म कथं प्राप्तुं शक्यते किं घटपटादि पादार्थानिव तं वयं चाक्षुस् साक्षात्कारविषयं कुर्याम, उताहो इन्द्रादीनिव देवान् वाग्भिः स्तोतुं शक्नुमः, उताहो मनसा चिन्तयेम ? इत्यत आह—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः ।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।।३।।

तत्र चक्षुः न गच्छति (तत्र) वाक् न गच्छति (तत्र) मनः नो (गच्छति) यथा अनुशिष्यात् एतत् न विद्मः न विजानीमः, इत्यन्वयः ।

अथेदानीं पूर्वमन्त्रेण व्याख्यातस्य सकलेन्द्रियनियन्तुः परमात्मनय अनिर्वचनीयतां दर्शयन्ती प्राह तृतीया श्रुतिः । यद्यपि ब्रह्म समस्तानां विषयाणां बाह्यकरणानामन्तःकरणानां तदधिष्ठातृदैवतानां सच्चेतनाप्राप्तिद्वारभूतप्रत्यगात्मनाम् अवभासकम् । ब्रह्म व्यापकं सच्चेतनघनं अप्रमेयचेतनाकम्, एतत्सापेक्षचेतनानीतराणि तथाहि विशुद्धचेतना-घनात्परमात्मनो गृहीतचेतनः जीवात्मा यथा शक्ति सुरेभ्यः सूर्यादिभ्यः प्रयच्छति तत्तत् ग्रहणक्षमतानुसारं चेतनां, ते च सूर्यादयो यमान्ताः दशभ्यो बाह्यकरणेभ्यः चन्द्रादयश्चैत्यान्ताः स्वान्तादिभ्यश्चतुर्भ्योऽन्तःकरणेभ्यस्तस्माल्लब्धचेतनातः यथायोग्यं चेतनांशं वितरन्ति, तेभ्यश्च लभन्ते चेतनां विषयाः, एवं विषयकरणसुरजीवाः अन्योन्यगृहीतचेतनाकतया अन्योऽन्यसापेक्षाः निरपेक्षस्तु एक एव सर्वपरमप्रकाशकः सकलवेदान्तसाधनायासनाशकः श्रीमदयोध्यापतिःविशिष्टाद्वैतापरपर्यायः परब्रह्मरूप-भगवान् रामः । तथा चाह श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यप्रशिष्यदेशिकः श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासमहाराजः श्रीमान-सरामायणे ।

विषयकरन सुरजीव समेता। सकल एक ते एक सचेता।।
सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।
(मानस १/११६/५-६)

तदेव ब्रह्म प्रत्यक्षेण नवागन्तुं शक्यं चक्षुरादीनां तत्र गमनासम्भवात्। अत: प्राह—तत्र तस्मिन् चक्षु:, चक्षुरिन्द्रियम् उपलक्षणतया ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, न गच्छति न याति, ब्रह्म हि निरतिशयमहिमसम्पन्नं व्योमेव व्यापकं कथमल्पशक्तिकं प्राकृतं चक्षुस्तत्र प्रसरेत्, कथं वा चेतराणि श्रोत्रघ्राणरसनात्वग्रूपाणि विषिनुयु: ? इत्यनेन इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षस्य ब्रह्मण्यसम्भवात् तत्र, नैयायिकसम्मतं प्रत्यक्षप्रमाणं निराकृतम्। तत्र ब्रह्मणि वक्, जडस्वभावकं वागिन्द्रियं न गच्छति, नावगन्तुं शक्नोति जडस्य हि विशुद्धचेतना ज्ञाने सर्वथैवासामर्थ्यात्, पदमपि वाक्पाणिपादपायूपस्थानां पञ्चकर्मेन्द्रियाणामपुलक्षणं, कर्मणां हि अज्ञानमूलकत्तवात् तदिन्द्रियाणां कथमहो नित्यज्ञाननिधौ ब्रह्मणि प्रसर: स्यात्। न वाक्गच्छतीत्यनेन तार्किकसम्मतं सादृश्यमूलकमुपमानप्रमाणमपि दूरापास्तं तस्य हि वाग्विषयत्वात् वाचस्तु ब्रह्मणि प्रसरासम्भवात्। मन:, सङ्कल्पवृत्यवच्छिन्नमन्त:करणम् न गच्छति नैव गृहीतविषयं भवति, तस्य हि स्वभावतश्चञ्चलत्वादणुत्वाद् व्याप्यत्वाच्च **नोमन:** इत्यनेन अनुमानप्रमाणमपिनिराकृतं, मनसो हि लिंङ्गपरामर्शव्यापारधर्मत्वात् तस्य मनसस्तु परमात्मनि गमनासम्भवात्। मनोऽत्र मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानामुपलक्षणम्। इत्थं सर्वेन्द्रियचतुरन्त:करणबहिर्भूतत्वात् परमात्मा श्रुतिभिर्ज्ञातुं शक्य:। अनेन प्रमाणत्रयनिराकरणमूलकश्रुतिवचनत्रयेण प्रत्यक्षानुमानोपमानवादिन: परास्ता:। वस्तुतस्तु परमात्मज्ञाने वेदा: प्रमाणं तदनुकूलानि ऋषिवचनानि स्मृतिपुराणेतिहास निगदितानि। तत्संग्रहेण वेदानुवचनमित्येकं प्रमाणम्। न च न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन: इति श्रुतिनिषेधानुरोधेन परब्रह्मपरमात्मनो दर्शनानुपपत्या तत्र तत्र इतिहासपुराणादिषु भक्तकृतपरमात्मसाक्षात्कारपरकसहस्राधिकप्रसङ्गानामप्रामाण्यं स्यादिति वाच्यं, श्रुत्या ब्रह्मणि चक्षुर्वाङ्मनसानां गमनासम्भवे प्रतिपादितेऽपि ब्रह्मणस्तत्र गमनासम्भवानुक्त्या दोषाभावात्। अयं भाव:—श्रुतेरस्या: यत् अपरिच्छिन्ने परमप्रकाशपुञ्जे महामहिमनि ब्रह्मणि कामं न यान्तु चक्षुर्वाक्स्वान्तानि तत्र गमने तेषां सामर्थ्याभावात्, परन्तु सर्वसमर्थ: परमात्मा भक्ताननुजिघृक्षु: तेषां परमभागवतानां चक्षूंषि कोटिकामकमनीयधनुर्बाणोपलक्षितसीताभिरामश्यामरूपेणवाचं च श्रीरामायणादिरूपेण मनांसि च सकलकल्याणगुणगणनिलयचरित्रस्मृत्या च गच्छत्येव, इत्येव तस्य भक्त-वैशिष्ट्यं वात्सल्यं च। वस्तुत: ज्ञानिनां समनस्कानीन्द्रियाणि तं विषयं कर्तुं न

पारयन्ति, किन्तु भक्तानां समनस्कहृषीकाणां स्वयमेव विषयो भवति हृषीकेषः समर्थयेते चैतच्छ्रीमद् भागवतमानसे । तद्ययथा कृतभगवत्सक्षात्कारो ध्रुवः प्राह—

योऽन्तः प्रविश्य ममवाचमिमां प्रसुप्ताम् ।
संजीवयत्यखिलशक्तिधरस्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् ।
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ।।

(श्रीमद्भागवत ४/९/५)

एवं मानसेऽपि योगिराजजनकः श्रीरामं प्रति प्राह—

नयन विषय मोकहुं भयउ सो समस्त सुखमूल ।
सबद लाभ जग जीव कहँ भये ईश अनुकूल ।।

(मानस १/३४१)

तस्मादिदं सुस्पष्टं यत् समनस्केन्द्रियाणां परे ब्रह्मणि प्रसराभावेऽपि भक्तिकृपावशंवदः परमेश्वरश्चेन् निजाचिन्त्यशक्तिबलेन साधकस्य चक्षुरादिविषयः सम्पद्यतां, तदा भगवत्साक्षात्कारे न श्रुतिविरोधः । अतो मुण्डकश्रुतिरपि प्राह **यमे वैस वृणुते तेन लभ्यस्तस्यै ईष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्** । यथा, येन प्रकारेण अनुशिष्यात्, शिष्यमनुशास्त्वाचार्यः, यद्वा अनुशिष्यादिति **व्यत्ययोबहुलम्** पा.अ. ३-१-८५ इत्यनेन उत्तमपुरुषबहुवचनार्थे प्रथमपुरुषैकवचन प्रयोगः, अनुशिष्याम् इति प्रयोक्तव्ये अनुशिष्यादिति प्रायुङ्क्त । एतत्, इमं प्रकारं न विद्मः, केन प्रकारेण विशिष्टाद्वैतं ब्रह्म शिष्यमुपदिशेम इति न बुद्ध्यामहे । कथमित्याह—न विजानीमः, यतो हि तस्य ब्रह्मणो निःशेषेण वक्तुमशक्यत्वात्, यदि वयमेव नैव विशेषेण जानीमः तदा कथमुपदिशेम सामान्यतयाजानन्तो नान्यमुपदेष्टुमधिकृताः वयमिति ध्वन्यते ।।श्रीः।।

एवमात्मनि ब्रह्मणो विशिष्टज्ञानाभावमाकल्य्य यत्किञ्चित् ज्ञानाधारेण शिष्यं प्रति ब्रह्मणि सर्वथैव वक्तुमशक्यत्वसन्देहनिराचिकीर्षया प्राह– यद्यपि पूर्णतया ब्रह्म कोऽपि ज्ञातुं न प्रभवति । किन्तु तत्कृपया प्रयत्नवान् यत्किञ्चित् ज्ञातुं यत्किञ्चित् वक्तुं च क्षमत एव, अन्यथा समस्तोऽप्युपनिषद्भाग एव मोघारम्भः स्यात् ।

अन्यदेव तद्विदितादथो आविदितादधि ।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ।।४।।

तत् विदितात् अन्यत् एव, अथो (तत्) अविदितात् अधि इति पूर्वेषाम् (सकाशात्) शुश्रुम (वयम् इति शेषः) ये नः तत् व्याचचक्षिरे, इत्यन्वयः।

यद्यपि ब्रह्म प्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्यनुपलब्धिचैष्टिकादिप्रमाणागोचरतया अत्यन्तमुपदेशानर्हं तथापि त्वया न भेतव्यम् । भवतु नाम पूर्णतया तस्योपदेशाभावः [illegible] निजगिरं पवित्रयितुं त्वां च कृतकृत्यं कर्तुं स्वकीयबुद्धिपात्रतानुपसारं [illegible]प्रसादलब्धत्वदुपदेशानुरूपज्ञानसामग्रीकस्त्वामुपदिशामः त्वया च सावधानेन श्रोतव्यम् । तत्, उपदेशविषयं ब्रह्म विदितात् विदि क्रियाकर्मभूतात् नश्वरात् संसारात् अन्यदेव विलक्षणमेव ब्रह्म नैव संसार इव जन्ममरणकूपे संसरति **विजरो विमृत्युर्विशोकः** इति श्रुतेः । अविदितात्, विदि कर्मतो बहिर्भूतात् अक्षरात् जीवात्मनः अधि, उपरिवर्तमानं ब्रह्म । इह शरीरे खलु द्वौ पुरुषौ तिष्ठतः क्षराक्षरौ क्षरो नाम क्षरणक्रियाश्रयः नाशवान् अष्टप्रकृतिनिर्मितभूतसमुदायः क्षरतीति क्षर इति व्युत्पत्तेः । अपरश्च अक्षरः सौम्यो जीवात्मा **नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः** इति स्मृतेः । इदं खलु ब्रह्म परमात्मनामधेयं भगवच्छब्दवाच्यं क्षराक्षरसंज्ञाभ्यां संसारजीवात्माभ्यां चिदचिद्भ्यां विलक्षणम् क्षरः खलु सर्वैः ज्ञातः अचित् अक्षरो जीवात्मा सूक्ष्मत्वात् अविदितप्रायः **श्रुत्वाप्येनं वेदं न चैवं कश्चित्** इति स्मृतेश्च, परमात्मा द्वावप्यतीतः तथा चाह पुरुषोत्तमयोगे भगवान् —

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।

(गीता १५/१६/१७)

इति, इत्थं पूर्वेषां पूर्ववर्तिनामाचार्यणां सकाशात् गुरुशिष्यपरम्परारातः शुश्रुम आकर्णयामासिम इदं त्वां सम्प्रदायपरम्पराप्राप्तमेव क्षराक्षरातीतं चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मोपदिशामः न त्वशास्त्रीयं स्वकल्पितमिति भावः । ये परमाचार्याः नः अस्मभ्यं चिज्ञासुभ्यः तत् ब्रह्मज्ञानं विशिष्टाद्वैतमूलकं व्याचचक्षिरे व्याचक्रुः।।

एवं विदितात्क्षरसंज्ञात् भूतसमुदायात् अचितः विलक्षणं, तथा च अविदितात् विदिक्रियाकर्मबहिर्भूतात् अक्षरसंज्ञात् जीवात्मनश्च चितः विलक्षणम्, अन्तर्यामितया प्रतिशरीरमध्यस्थगुणत्रयवर्जितं विशुद्धचेतनघनं सगुणसाकारे सर्वथैनानुपहितं ब्रह्मेति मन्त्रार्थो व्याख्यातः । केचिदिह विदितादित्यस्य हेयादिति अविदितादित्यस्य उपदेयादिति

विवृतिं कृत्वा ताभ्यां विलक्षणमात्मतत्वं ब्रह्मेत्यस्वारसिकं व्याख्यानं विदधते तथा च आत्मैव ब्रह्मेति वाक्यार्थं व्यस्थापयन्ति तदसारं रभसा व्याख्यानम् । क्षराक्षराभ्यां विलक्षणस्य ब्रह्मणः श्रीगीतासु भगवतैव व्याख्यातत्वात् विदिताविदितशब्दयोश्च क्षराक्षरत्वरूप वाच्यार्थस्यैव सार्वजनीनत्वात् । अहो को नामा मन्दधीः रसालशब्दोच्चारणे तद्वाच्यतया पनसफलमङ्गीकरिष्यति । श्रीगीता विस्पष्टमादिशति क्षराक्षरातीतस्य पुराणपुरूषोत्तमस्य भगवतो विरुदम्—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम ।
यतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः ।।

(गीता १५-१८)

न च **यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः आत्मास्य ब्रह्म** इत्यादि शताधिक श्रुतिषुब्रह्मत्वेनात्मैवप्रतिपादित इति वाच्यम् ? तत्रात्मशब्दस्य परमात्मपरकतया व्याख्यानेनादोषात् । अथ आत्मनः परमात्मव्यतिरिक्त्वे किंमानमितिचेत् ? कठश्रुतिरेव परमप्रमाणतया गृह्यतां, तथा च काठकाः पठन्ति ।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो महान् ।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।।

अत्र वर्णितानां सप्तपदार्थानामिन्द्रियार्थमनोबुद्ध्यात्ममहदव्यक्तपुरुषाणां मध्ये एकैकस्मादेकैकस्य सूक्ष्मत्वपर्यायपरत्वप्रतिपादने आत्मनो नामपञ्चमं स्थानं, ततो महतस्ततोऽव्यक्तस्य मायारव्यशक्तिविशेषस्य, ततोऽपि पुरुषस्य परतरं सर्वेभ्यो सप्तमं स्थानम्, इत्थं परत्वतालिकायां पञ्चमे स्थाने विद्यमानस्य आत्मनः को नाम सप्तम स्थानापन्नेन पुरुषेण सहाभेदं निश्चेष्यति ऋते दुराग्रहगृहिलेभ्यः । ननु **बुद्धे रात्मेति** कठोक्तमन्त्रखण्डे प्रयुक्तात्मशब्दोऽहंकारार्थः इति चेन्न, सर्वोपनिषद्गवीदुग्धभूतायाः श्रीगीतायाः प्रकरणप्राप्तसिद्धान्तविरोधानुरेधेन नैतत्व्याख्यानमादरास्पदं तत्र, हि तृतीयाध्याये कामविजयप्रोत्साहनप्रकरणे तदात्मनो बलवत्त्वव्याख्यावसरे भगवता कण्ठरवेण बुद्धेरात्मनो बलवत्त्वरत्वं समभ्यधायि । तथा हि तत्र भगवान् कामविजयाय पार्थं नियोजयन् प्राह—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रयेभ्य परं: मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।

(गीता - ३-४२)

भगवत्पादश्रीशंकराचार्यचरणैरपि सः इति पदस्य आत्मा इत्येव व्याख्या कृता, तत्र पूर्वोक्तं कठोपनिषन्मन्त्रद्वयमप्युदाहृतम् । इत्थं गीतासु बुद्धेः परस्य आत्मनः जीवात्मपरत्वं स्वीकृत्य श्रुतावत्र कथं तत्परं तमेवशब्दमहंकारपरतया व्यवस्थापयितुं शक्येत ? ननु जीवात्मपरमात्मनोर्भेदसमवधानमिदमुपाध्यवच्छिन्नतया जीवात्मन औपचारिकमिति चेत् घटावच्छिन्नाकाशस्य महाकाशतो भेद इव मैवं वादीः **अचलोऽयं सनातनः, जीवभूतः सनातनः** इत्यसकृत् स्मृतौ सनातनशब्दस्य प्रत्यगात्मानं प्रति प्रयोगदर्शनात् **सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे, बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्** इत्यनेकधा परमात्मनः सनातनशब्देन स्मृतत्वात् । जीवात्मपरमात्मनोरुभयोरपि प्रमाणितयोः सनातन्योः सत्तयोः सत्योः **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्** इति श्रुत्यापि द्वयोः नित्यतायां प्रमाणितायां तयोर्भेदः त्रिकालं पारमार्थिक एव स्वीकर्तव्यस्त्वया । अथ अयमात्मा ब्रह्म इति महावाक्यस्य कथं संगतिर्भविश्यतीति चेच्छुणु—**आत्मा शरीरे जीवे च जीविते परमात्मनि** इति कोष वचनेन **अयमात्मा ब्रह्म** इत्यत्र प्रयुक्त आत्मशब्दः परमात्मपरः । अथ आत्मशब्दस्य विविधार्थकत्वे कोषातिरिक्तमस्ति किमपि मानं ? इति चेत् सन्ति बहवः प्रयोगाः । तद्यथा **पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा** अत्र भागवते प्रयुक्तः आत्म शब्दः शरीरार्थकः, नहि खलु जरामरणरहितः प्रत्यगात्मा केनापि हन्तुं शक्यते **नायं हन्ति न हन्यते, न हन्यते हन्यमाने शरीरे** इति बहुशो भगवतैवोक्तत्वात् श्रीगीतास्वपि आत्मशब्दः मनोबुद्धिःजीवात्मपरमात्मार्थेषु प्रयुक्तः । **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानम वसादयेत्** अत्र तृतीयान्तआत्मशब्दः बुद्ध्यर्थः द्वितीयान्तः मनोऽर्थः, एवं **येनात्मैवात्मना जितः** अत्रापि तृतीयाप्रथमान्तौ बुद्धिमानसार्थावात्मशब्दौ मानसार्थावात्मशब्दौ **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा** इत्यत्र परमात्मपरआत्मशब्दः । अथ जीवात्मपरमात्मनोः भेदोऽयं कदा प्रभृतीति? चेत् शाश्वतिक इति ब्रूमः । अस्मिञ्छाश्वतिकभेदे का विनिगमना ? मुण्डकश्रुतिरेव गृह्यतां, तथा हि—शरीरमेतद् वृक्षोपमानतया परिकल्प्य द्वाविमौ जीवात्मपरमात्मानौ खगाविव परस्पर सखित्वनिन्धनौ प्रत्यपादिषातां श्रुत्या, यथोक्तम्–**द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानंवृक्षं परिषश्वजाते** । अथ भवतां विशिष्टा-द्वैतवाददर्शने सामान्यतस्तु प्रत्यगात्मपरमात्मनोरभेद इव प्रतीयते ? सत्यं प्रतीयते, किन्तु त्वादृशानामल्पज्ञानाम् । श्रुतिसारपारदृश्वनां तु त्रिकालमपि नहि, यतोहि वयमौपनिषदाः श्रीमदाद्य जगद्गुरुरामानन्दाचार्यपदपद्मपरागपीयूषपायिनः प्रत्यगात्मपरमात्मनोर्भेदं निश्चिन्वानाः

भेदभक्तिमेव समग्रेऽस्मिन् दर्शने दर्शयितुं यतामहे। अथ भवतान्नये का नाम व्युत्पत्तिरद्वैतशब्दस्य ? द्वयोः भिन्नयोः संत्तयो भावोः द्विता द्विशब्दात् भावे तल् प्रत्ययः ततस्टाप, द्वितैव द्वैतं स्वार्थे द्विताशब्दात्दण् प्रत्ययः, एवं प्रकृत्यर्थप्रकारीभूतभावप्रत्ययार्थत्वात् द्वैतशब्दः द्वित्वावच्छिन्ननिष्ठभेदत्वावच्छिन्नभेद बोधकः, न विद्यते द्वैतं भेदबुद्धिर्यस्मिन् तदद्वैतं ब्रह्म। अथ कथं भवता बहुव्रीहिसमासेनाद्वैतशब्दो व्याख्यायते कथं न तावत् तत्पुरुषपरतया न द्वैतमद्वैतमिति हि व्याख्यायते ? इति चेच्छूयतां अस्मद्व्याख्याने श्रुतिरेवमूलं, माण्डुक्यश्रुतिर्हि परमात्मानमद्वैत शब्देनाभिधत्ते **शिवमद्वैतं मन्यन्ते** इत्थं नास्ति द्वैतं जगत्प्रति स्वसंततिनिरूपितैकत्वविरूद्धभेदभावो यस्मिन् तथाभूतमद्वैततत्वं रामाभिधं परब्रह्मैव। अमुष्मिन्नञ् तत्पुरूषपरकार्थव्याख्याने न विद्यते कुत्रापि श्रुतिषु मूलं तस्मात् तं पक्षं नाद्रियामहे वयं श्रुतिसिद्धान्तोपजीविनः श्रुतिसेतुपालकश्रीरामपदपद्मपराग-भूषितभालपट्टिकाः रामानन्दीयश्रीवैष्णवाः ।।श्रीः।।

अथेदानीं विशिष्टाद्वैततत्वं परब्रह्मैव तत्किञ्चिद्रूपेण शिष्यं प्रति प्रवक्तुमुपक्रमते। उपनिषदोऽस्याः प्रथममन्त्रे शिष्येण मनःप्रणवाक्चक्षुःश्रोत्रप्राणानां नियमनकतृतत्प्रेरयितृविषयिणी जिज्ञासा समुपस्थापिता, तत्प्रेरयितुः स्वरूपं निरूप्य पुनस्तत्र परमपुरुषार्थसेवधौ परस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वं शिष्येण चर्चाविषयीकृतानां पञ्चानामपि वाङ्मनोचक्षुःश्रोत्रप्राणानां प्रसरासम्भावनां सम्विभावयन् क्षराक्षरयोर्ब्रह्मत्वनिषेधपुरःसरं क्षराक्षरातीतं परमं ब्रह्म निश्चायत्यन्योगव्यवच्छेदेन पञ्चभिर्मन्त्रैः यदित्यादिभिः। तत्र प्रथमं ब्रह्मणो वागगोचरतां प्रतिपादयन् प्राह यदिति—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। ४ ।।

यत् वाचा अनभ्युदितम्, येन वाक् अभ्युद्यते, तत् एव त्वम् ब्रह्म विद्धि यत् उपासते इदम् इदम् (ब्रह्म) न, इत्यन्वयः—

यत्, वर्णितचरं ब्रह्म, वाचा कर्मेन्द्रियभूतया जडप्रकृत्या वाण्या, अनभ्युदितम् अभ्युदितभिन्नं नोक्तमिति यावत्, चैतन्यमन्तरेण केवलया जडया तस्य व्याहरणासम्भवात्। येन, चैतन्यघनेन वाक्, वाणी चेतनावती सती अभ्युद्यते, स्वयमेवोक्ता ख्यातार्था च भवति। अत्र कार्यसौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृभूतवाचो व्यापाराविवक्षणेन कर्मकर्तरि लट् लकारः। तत् एव, वागधिष्ठानचेतनानतिरिक्तमिति भावः, त्वम् साधकः शिष्यः स्वात्मनः सेव्यतया ब्रह्म परब्रह्मतत्वं विद्धि, जानीहि। यत् यच्छब्दोऽयं सर्वनाम अतः निसर्गात् पूर्वचर्चितयोः विदिताविदितयोः क्षराक्षरयोः अचिच्चितोः परामर्शकः।

सर्वनाम्नां पूर्वपरामर्शकत्वं स्वभावात् इति वैय्याकरणराद्धान्तानुरोधात् । फलतः यत् क्षरं सामान्या उपासते सेवन्ते विशिष्टाः केचन यच्छाब्दबोध्यं अक्षरम् उपासते, आराध्यतया समवधारयन्ति। इदं प्रत्यक्षवर्तमानं संसाररूपं क्षरं, यद्वा इः कामः तं ददाति इति इदं कामसंकल्पदातारं क्षरसंज्ञमचित् इदं साधकानां दृश्यमानम् अक्षरं, यद्वा इं कामं द्यति खण्डयति तथाभूतं न ब्रह्मेति भावः । अभ्यां चिदचिद्भ्यां परतरं ब्रह्म इत्याशयः ।। श्रीः ।।

अथ जडा वाणी इदं ब्रह्म कामं न वक्तुं शक्येन्नाम, परं समनस्कबुद्धिस्तु बोद्धुं शक्नोत्येव इत्यत आह—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। ५ ।।

यत् मनसा न मनुते, येन मनः मतम् आहुः, तत् एव त्वम् ब्रह्म विद्धि, यत् उपासते इदम् इदम् न, इत्यन्वयः ।

यत्, पूर्वनिर्दिष्टं ब्रह्म मनसा, सङ्कल्पवृत्या उपलक्षणविधया बुद्ध्या च न मनुते, न बोद्धुं शक्यते, येन करणभूतेन मनः अन्तःकरणं मतम्, मननस्त्यस्मिन् इति मतम् निष्ठान्तमत शब्दात् मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः मननक्रियायुक्तमिति भावः । नहि चेतनामन्तरेण मनः किमपि संक्ल्पयितुं पारयति । आहुः, कथयन्ति ऋषयः इति शेषः । तदेव, मनसोऽपि मननसामर्थ्यमूलं ब्रह्म, स्वाराध्यं त्वं, विद्धि निश्चिनु, यत्क्षरमक्षरं अचिच्चित् उपासते, चिन्तयन्ते इदम् इदम्, व्याख्यातपूर्वं द्वयमपि न, नैवेष्टदैवतम् ।।श्रीः।।

अथ किमस्मदाराध्यं वयं चाक्षुषसाक्षात्कारविषयं कर्तुं शक्नुमः इत्यत आह—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।६।।

यत् चक्षुषा न पश्यति येन, चक्षूंषि पश्यति, तत् एव त्वम् ब्रह्म विद्धि यत् उपासते इदम् इदम् न इत्यन्वयः । यत् परमेश्वरतत्वं, जनः चक्षुषा, ज्ञानेन्द्रियप्रमुखेण चेतनारहितेन न पश्यति न साक्षात्करोति नहि खल्वल्पज्योतिषा प्राकृतनेत्रेण परमात्मा साक्षात्कार्यः, यथार्जुनं प्राह भगवान् श्रीकृष्णः **न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा** येन, चक्षुरधिष्ठितेन करणेन चक्षूंषि नेत्राणि अत्र बाहुलकात् एकवचनार्थे बहुवचनं, अथवा आदरार्थे बहुवचनम् । एवमेव भगवदधिष्ठितं तत् परमादणीयं पश्यति दृष्टं भवति, अत्रापि कर्मर्कृप्रयोगः, यद्वा पश्यति चराचररूपं स्वविषयी करोति तदेव ब्रह्म

परमाराध्यं तं विद्धि । यत् उपासते, संसारजीवात्मानौ भजन्ते इदम्-इदम् न, द्वाभ्यां विलक्षणं ब्रह्म ।।श्रीः।।

अथ स्यान्नाम चक्षुरगोचरं तत्तत्वं, परं गुरूमुखात् श्रुतिवाक्येभ्यश्च श्रोतुं शक्यते तत् ? अतो निषेधवचनं प्राह—

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ् श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।७।।

अन्वयस्तु पूर्ववत्, यद्ब्रह्म श्रोत्रेण श्रवणोन्द्रियेण न शृणोति नाकर्णयितुं शक्नोति, तस्य शब्दागोचरत्वात्, येन प्रकृष्टोपकारकेण इदं श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं श्रुतम्, श्रुतवत् आहुः, तस्यैव सामर्थ्यात् व्योमांशः श्रोत्रमालम्बते इति भावः । तदेव शब्दनियन्तारं ब्रह्म परमसेव्यं तं विद्धि । यदुपासते इदं इदं न, ततो विलक्षणं ब्रह्मेति भावः ।।श्रीः।।

अथ श्रवणागोचरत्वेऽपि तत् घ्रातुं शक्यते किम् ? अतः प्राहः,

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।८।।

अन्वयस्तु पूर्ववत्—

यद् ब्रह्म प्राणेन घ्राणद्वारकवायुना न प्राणिति, तन्निरपेक्ष एव जीवति इति भावः, यद्वा न प्राणिति नैव घ्राणविषयो भवति अत्रापि कर्मकर्तृप्रयोगः । येन चैतन्यप्रदेन प्राणः प्राणवायुः प्रणीयते प्रतिनाडीमुखं प्रेश्यते, तदेव सकलेन्द्रियनियन्तारं ब्रह्म परमवर्धनशीलं वेदान्ततत्वं त्वं साधकः विद्धि । दासभूतः सन् स्वामिरूपेण सेव्यतया समवगच्छ । यत् प्रागुक्तं क्षराक्षरम् अचिच्चिती उपासते फललिप्सया सर्वे सेवन्ते, इदं न इदं द्वयमपि अचि च्चिती न ब्रह्म । तदेव द्रढयितुं भूयः प्राह—इदं न, आभ्यां क्षराक्षराभ्यां व्याकृत प्रकृतिभ्यां विलक्षणं ब्रह्म । मन्त्राणामालस्याभावात् साधकहृदयेषु तत् तत्वस्य दृढतया निविवेशयिशया अभ्यासोऽयम् । ईश्वरस्यानन्दमयत्वात् नैव पुनरावृत्तिः ।

इत्थम्—

सर्वेन्द्रियनियन्तारं सर्वशक्तिसमन्वितम् ।
क्षराक्षरातीतमिदं रामाख्यं ब्रह्म तद्भज ।।श्रीः।।

।। इति प्रथम खण्डः ।।

।। श्री राघवःशन्तनोतु ।।

।। द्वितीयखण्डः ।।

अथ प्रथमखण्डे आचार्येण मन्त्रैरष्टाभिः बोधितब्रह्मतत्वविदितयाथातथ्यो गृहीतसद्गुरूपादमद्मः कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानः सुखमन्वभूदन्तेवासी । एवमहं ब्रह्मवेदेत्यात्मानं सर्वज्ञं मन्यमानं शिष्यं निर्दर्पं चिकीर्षुराचार्यः परमात्मनः सामग्र्येण बोधागम्यत्वं प्रतिपादयन् प्राह—सौम्य ! यमनिर्वचनीयं विशिष्टाद्वैततत्वं श्रीराममद्वैतं ब्रह्म निःशेषेण वेदितुं न प्रबभूवुर्महर्षयोऽपि तं बुभुत्सुज्ञानागोचरं परमात्मानं ज्ञातं मन्यसे, वस्तुतो वत्स ! वयमपि तं सम्यग् न जानीमः । श्रुतयोऽपि तं निःशेषेण न वक्तुं प्रभवन्ति, अतो मया मन्त्राष्टकेन यत्किञ्चिदुक्तं तदनलप्रादेशमात्रम् । एतावता ज्ञानेनैव यदि त्वमात्मानं शान्तजिज्ञासं कलयसि चेन् मोघं ते जीवत्वं, जीवस्य हि तत्वजिज्ञासैव लक्ष्यं, यथा प्राह भागवते श्रीसूतः—**जीवस्य तत्व जिज्ञासा नार्थो यस्येह कर्मभिः** इदमेवान्तरं खलु जन्तुजीवयोः । जन्तुर्नाम जायते जायमानः सन्नज्ञातपरमात्मतत्वो म्रियते, जीवोनाम जीवति जानकीजीवनाय परस्मै तत्वभूताय रामाय यस्तथाभूतः । सम्प्रदानार्थेऽच् प्रत्ययो जीवधातोः । तथा हि-ब्रह्मजिज्ञासा-शून्यत्वेसति गृहीतजन्मत्वे सत्यज्ञानतिरोहितचेतनत्वम् जन्तुत्वं । जीवत्वं नाम तत्वजिज्ञासुत्वे सति गृहीतजन्मत्वे सत्यज्ञानाभिभूतचेतनत्वम् । अतस्त्वया नैतावतेव बोधेन सन्तोषः कर्तव्यः यावत्परमात्मपदं मीमांसनीयं, सर्वमिद् लक्ष्यीकृत्यप्राह यदीति—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणोरूपं ।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमाँस्यमेव ते मन्ये विदितम् ।।१।।

यदि त्वम् इति मन्यसे सुवेद अपि नूनम् ब्रह्मणः रूपम् दभ्रम् एव, अस्य यत् त्वम् अस्य यत् देवेषु (तत् दभ्रम् एव) अथ नु मन्ये ते विदितम् मीमांस्यम् एव, इत्यन्वयः ।

यदि, यद्यपि ते ब्रह्मज्ञानं नास्ति तथाप्यात्मानं ब्रह्मज्ञानिनं विजानासि चेत्, इत्यर्थः, त्वं युष्मत्पदवाच्यः साधकः इति, इत्थं मन्यसे, अभिमन्यसे, आत्मनि ब्रह्मज्ञानं कलयन् साभिमानो भवीसीति भावः । अभिमानस्य कः प्रकारः ? इत्यत आह-सुवेद, शोभानतया ब्रह्म जानामि यद्वा सु शब्दः ब्रह्मवाचकः तदेव वेद्मि इत्याकारकः । ननु यदि ब्रह्म जानन्नात्मानं ब्रह्मज्ञं मन्ये तदा किमपराधयामीत्यपेक्षमाणं प्रत्याह-अपि, अपिस्त्वर्थः हार्दमेतत्यदपराध्यसि नहि किमपि मह्यं, स्वस्मै त्वपराध्यस्येव यतो हि ज्ञानिनि ज्ञातृभावो नावसिष्ठति यदि तिष्ठति तदा न सः ज्ञानी, तस्मिन् परावरेशे ब्रह्मणि अपरोक्षानुभूतिविषयतान्नीते स्वत एव अहं भावो व्युपगतो भवति ।

यतस्त्वयि ब्रह्मज्ञभावो वरिवर्त्यतस्त्वं नैव सामग्रयेण जानासि। नूनम् निश्चयेन ब्रह्मण:, परमेश्वरस्य रूपम् स्वरूपं तत्वं वा दभ्रम्, अत्यन्तमल्पम् एव नि:संदेहं वेल्थ जानासि। परमात्मज्ञानं हि निरवधि, यदि त्वमात्मप्रज्ञया तदप्येवं भाषयसे तदा निश्चिनोमि यत् तावकं ज्ञानं नास्ति निरवधि, निरवधिमहिम्नो न केनापि पारं गन्तुं शक्यते। केचन रूपशब्देनात्र ब्रह्मणोऽनुभवगम्यविशेषाकृरिति व्याचक्षते। तन्नोचितं भगवत: प्रत्येकरूपस्य नित्यतया दभ्रादभ्रत्व कल्पनानौचित्यात्, अस्य एतस्य ब्रह्मण:, यद्वा अकार: रामचन्द्र: तस्य यत्, सर्वानुभवसिद्धम् स्वरूपं त्वम्, त्वयि त्वम् शब्दोऽत्र युष्मच्छब्दस्यसप्तमयन्तैकवचनार्थ:। अथ कथं ? त्वं शब्दस्य सप्तक्यैकवचनान्ततया विपरिणाम: देवेष्विति सप्तम्यन्तशब्दानुरोधात्। त्वं शब्द: कथं त्वयीत्यर्थपर: ? इति चेतच्छृणु **सुपां सुलुक्** पा. अ. ७-१-३९ इत्येनन ङीविभक्ते: सावादेशे **त्वाहौ सौ** पा. अ. ७-२-९४ इत्यनेन स्वादेशे **ङे प्रथमयोरम्** इत्यनेन सोरमि पूर्वरूपे त्वमिति सिद्धम्। सत्यपि विभक्तिव्यत्यये नार्थव्यत्यय: तस्मात् श्रूयमाणोऽपि त्वं शब्द: सप्तम्यन्तार्थसमर्पकतया त्वदभिन्नाधिकरणरूपामर्थमेवाभिधास्यति। एवमस्य परमात्मन: यदन्तर्यामिरूपं त्वं शब्दाभिधेये त्वयि तिष्ठति तदपि दभ्रमेव, यतो हि इदं रूपं तु त्वद् गुहानुरूपं स्वल्पाकारं, वस्तुत: परमात्मनस्तदपि किञ्चदलौकिकरूपं यत्र प्रतिलोमं कोटिकोटिब्रह्माण्डानि विजृम्भन्ते। ननु अस्य त्वमित्यत्र किमनेन त्वयीतिविपरिणामेन त्वं शब्दस्तिष्ठतु प्रथमार्थ एव ? मैवं त्वं पदाभिधेयस्य जीवस्य परमात्मपार्थक्येन कण्ठत: प्रोक्तत्वात् **द्वासुपर्णा सयुजा सखाया वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता** एवमादीनि सन्ति सहस्राधिकानि श्रुतिवचनानि प्रमाणानि। न च अशांशिभावमाश्रित्य जीवब्रह्मणो: त्वंपदस्य प्रथमान्ततयैव स्वीकारे न दोष इति वाच्यम्। अंशशब्दस्य शकलार्थस्वीकारे परमेश्वरस्याखण्डतैव छिन्नमूलास्यात्। अथ अंशशब्दस्य अंशसदृशे लाक्षणिकप्रयोगे न दोष:। एवं हि सोपाधिचैतन्यम् अंश: निरूपाधिचैतन्यम् अंशी उपाधिभङ्गे अंशांशिनोरैक्यमिति चेन्न, तत्र सनातनशब्दप्रयोगेण तस्य च नित्यार्थकतया अंशस्योपहितचैतन्येऽनिष्टत्वस्य श्रीगीतासु भगवतैव घोषितत्वात्। तथा हि **मैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:** अथांश शब्दस्य पुत्रपर्यायतया व्याख्याने तत्र सनातनत्वस्य चोपपत्तौ समस्तदोषपरिहारे सम्भवेऽपि अंशशब्दस्य नितयपुल्लिंगत्वात् यच्छब्देन तत्परामर्शाभावात् यच्छब्दस्य विशेषणतया रूपमेवाध्याहर्तव्यम्। एवं त्वं शब्द: सप्तम्याविपरिणमय्य त्वयीत्यर्थे वाचकतया स्वीकरणीयम् इत्यलमतिपल्लवितेन। अस्य उपदेष्टनयनगोचरस्य अकारवाच्यस्य भगवतो निखिलनयनाभिरामश्रीरामस्य देवेषु इन्द्रादिषु, केचन देवशब्देन चतुर्दशकरणाधिष्ठानदेवेषु इत्यर्थं व्याचक्षते,

तदस्वाभाविककल्पनाप्रसवतया नादरणीयम्। इन्द्रादिदेवेषु खलु भगवतः विभूतिरूपं विराजते । तत् दभ्रम् एव, तदपि रूपमत्यन्तमल्पमेव, भगवतो हि श्रीविग्रह एव समस्त देवनिवासस्य बहुत्र शास्त्रेषु चर्चिततत्वात् । अथ, अनन्तरम् विदितप्रयत्याख्यानानन्तरमितिभावः नु, निश्चयेन मन्ये, तावकीनं मनोभावं समीक्ष्य निष्कर्षयामि इति भावः, किं निष्कृष्टमित्यत आह–ते विदितम् अत्र **कतृकर्मणोः कृति** इति सूत्रेण कर्तरि षष्ठी, अद्यावधि महान्तं परिश्रमं विधाय त्वया कर्तृभूतेन यदपि ब्रह्मणोरूपं विदि कर्मतां नीतं विज्ञातमित्यर्थः तन्नैव परिपूर्णम्, इतोऽप्यधिकं ज्ञातव्यम्। अस्मादिदं मीमांस्यं मीमांसाकोटौ नेयं। कस्य साधनप्रत्यवायस्य परिणामेन त्वया ब्रह्मणः स्वल्पं रूपमभिविज्ञाय स्वकीयसाधना परिपूर्णा समङ्गचकारि । एव, क्रियाविशेषणतया पदमिदमत्यन्तायोगं व्यवच्छिनत्ति परमात्मनो मीमांसामतिरिच्य कतमोऽपि विषयो नो मीमांस्येतेति विधिः ।।श्रीः।।

एवमाचार्यमुखात् कात्स्न्र्येन ब्रह्मणो विदिकर्मविषयताभावमाकर्ण्य स्वस्मिन्नरोपयिष्यणामब्रह्मज्ञत्वाभिमाननिरसनपटुसद्गुरूवचनभङ्गिमानमनुभूय भूयः श्रद्धासमवनतकन्धरः शिष्यः छलशून्यतया स्वकीयमनोदशां निसर्गतोऽनभिभूतस्वान्तः शान्तः प्राञ्जलिः प्राह छात्रः—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ।।२।।

अहम् सुवेद इति न मन्ये, न वेद इति नो (मन्ये) च वेद नः यः तत् वेद (सः) तत् वेद न वेद इति न च वेद इत्यन्वयरीतिः ।

इदानीं शिष्यः निष्कपटमनस्तया स्वकीयसाधनापरिस्थितिं विवृण्वन् ब्रह्मणोऽनिर्वचनीयतां सूचयति। यन्मया भवच्छ्रीमुखकमलनिगलदुपदेशपीयूषं पेपीयमानेन सावधानेनापि ब्रह्मणः सामग्र्येण तत्वं ज्ञातुं कथं प्रभूयेत ? अतः यत्किञ्चिदंशतो ज्ञातं तस्माद् ब्रवीमि जानामीति, परञ्च साकल्येन न ज्ञातं तस्माद् ब्रुवे न जानामीति, ज्ञानं यत्किञ्चिदंशेन तत्प्रतियोगिताकाभावः तदवच्छेदेन, अत आह—अहम्, ब्रह्मज्ञानविषये क्रियमाणयत्नसाधकः सुवेद, शोभनतया जानामि, शोभनतत्वञ्चात्र ब्रह्मज्ञानस्य सकलांशविषयत्वम्, इति न मन्ये, न स्वीकरोमि । यतो हि व्योमव्यापिनस्तस्य समग्रज्ञानं ह्रसीयसा जीवेन परिच्छिन्नवृत्तिमस्तिष्के कथं धारयितुं शक्यम् । अत्र सूपसर्गस्य वेदेति क्रियापदेन **सहसुपा** पा. अ. २-१-४ इत्यनेन समासः । न वेद न जानामि इति, इत्थमपि नो, नाङ्गीकरोमि, च चकारोऽयं यतो हीति पदार्थः, यस्माद्धेतोः मया ब्रह्मज्ञातं तस्मादहं तदपलपितुं न शक्नोमि इति निष्कृष्टार्थः । वेद वेद्मि ब्रह्मतत्वमिति

शेषः । नन्वेकस्मिन् विषयिणि एकस्मिन्नेव काले कथं ज्ञानाज्ञानरूपं विरूद्धधर्मद्वयावगाहि विषयद्वयं स्थातुं शक्येत ? अतः प्राहोत्तरार्धेन नाहमपलपामि तवास्मिन् विरूद्धधर्मद्वयविषयानु भवे का विनिगमनोति चेत्, मत्सजातीयानुब्रह्मानुभवप्रतीतिरेव विनिगमना, यथा नः, अस्माकम् भवच्छिष्याणां मध्ये यः, कश्चन गुणनिर्धार्यमाणसाधकविशेष इति भावः तत् तत्पदार्थभूतं ब्रह्म वेद, अपरोक्षानुभवविषयं करोति तादृक् कृतब्रह्मसाक्षात्कारः तत, पूर्वोक्तं वेद, जानाति । किं वेद इत्यपि आह- न वेद इति न अहं न जानामि इत्यपि नहि, च यतो हि वेदतात्पर्यमेतत् यत् ब्रह्मतत्वं किमपि जानन्नपि तस्यावाङ्मनोगोचरत्वात् पूर्णतया तन्नजानामि इदं विरोधि धर्मद्वयं ज्ञानाज्ञानरूपं कोऽपि ब्रह्मज्ञ एवनिश्चेतुं शक्नोति ।।श्रीः।।

इत्थं शिष्यप्रतिवचनं निशम्य तं निर्गलिताभिमानं विभाव्य तेनैव प्रतिपादितां ब्रह्मणोऽनिर्वनीयतां समर्थयमानः सद्गुरूः प्रसन्नः प्राह -

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।३।।

यस्य अमतम् तस्य मतम्, यस्य मतम् सः न वेद, विजानताम् अविज्ञातम् अविजानताम् विज्ञातम्, इत्यन्वयः ।

अत्र मन्त्रे चतुर्षु षष्ठ्यन्तप्रयोगेषु **कर्तुकर्मणोः कृति** पा.अ.२-३-६५ इति सूत्रविहिता तृतीयार्थे बोध्या कर्त्तरि षष्ठी । अत्र सद्गुरूः शिष्यं प्रीणयन् तस्य ब्रह्मज्ञानविषये निर्गलिताभिमानतामेव मण्डयति । वत्स ! साधूत्तरितम् यस्य अमतम्, येन कर्त्रा ब्रह्म मननविषयीकृतमित्यभिमानो न धारितः, तस्यैव तेन कर्त्रैव मतं ब्रह्मणः मननं कृतं ब्रह्म ज्ञातं वा । यस्य अमतम्, येन कतृभूतसाधकेन ब्रह्म मननविषयतामापादितम् इत्थमभिमतं सः अहं ब्रह्मज्ञातवानिति कृताभिमानः न वेद, ब्रह्म न जानाति । यतो हि कर्तृत्वाभिमानशून्य एव तज्ज्ञो भवति तस्मिन् हि सेव्यता समवधारिते स्वीकृते च सेव्यसेवकभावसम्बन्धे सम्बन्धनिबन्धने चैकत्वे द्रढीकृते ज्ञेयज्ञातृभावो हि नितरां विस्मर्यते, आञ्जस्येन तत्र संसारसम्बन्धभिमानतिरोभावात् । ब्रह्मणो बोधात् प्राक्संसारसम्बन्धकल्पना तस्मिन् बुद्धे स्वरूपतः संसारो नैव तिरोधातुं शक्यः, न वा तस्य प्रत्यक्षतो मिथ्यात्त्वं लपितुं शक्यम् । तस्य हि भगवद्रूपताया ऋषिभिर्बहुत्र कण्ठरवेण प्रतिपादितत्वात् **जगत्सर्वं शरीरं ते** इति वाल्मीकीयरामायणे ब्रह्मणो भगवन्तं रामं प्रतिकथनम्—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ।।

(श्रीमद्भागवत, ११/२/४१)

इति श्रीभागवते कवेरूक्तिर्निमिं प्रति एवमादीनि आर्षवचनानि प्रमाणानि । न च संसारस्य भगवद्रूपतायां वेदाप्रामाण्यमिति वाच्यं, पुराणानां वेदमूलकत्वात् । वेदमन्त्रा अपि बहुत्र प्रामाण्यं प्रस्तुवन्ति । विस्तरभिया इहैक एव मन्त्रः प्रामाण्यमीमांसायामुपन्यस्यते । तथा हि वाजसनेय माध्यान्दिनीशाखाध्यायिनो मनन्ति **नाभ्या आसीदन्तरिक्षँ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँऽऽन् अकल्पयन् ।** इत्थं श्रुतिस्मृतिनिर्णीतं जगतो ब्रह्मरूपत्वं श्रीमानसकृदपि समचिख्यपत्—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त ।।

(मानस ४-३)

अत्रेदमवधेयम्—यत् संसारस्य भगवद्रूपत्वेऽपि निर्णीते जीवो भगवद्दास एव अतो जगद् रूपं भगवतः । किन्तु मनुष्यो निवासः तथा चाह श्रीमच्छुकाचार्यः **मनुर्मनीषामनुजो निवासः** एवं विधधारणायां सम्बन्धाद्वैतं प्रतिपन्नस्य कर्तृत्वाभिमानः सुतरां समाप्त इति विरम्यते व्याख्यानात् । विजानतां ब्रह्मविज्ञानाभिमानवताम् अविज्ञातम्, नैव विशिष्टज्ञानविषयीभूतं, समासेऽपि नञार्थश्रौतत्वात् क्रियायामेवान्वेति । अविजानताम्, न विशेषण जानन्तीत्यविजानन्तः तथाभूतानामब्रह्मज्ञं मन्यमानमनसामितिभावः । विज्ञातम्, विज्ञानविषयीभूतं, यद्वा पूवार्धे यत् शब्दः भावनिष्ठान्ततया मान्यता परकः, तस्मिन् पक्षे च व्याख्यानमित्थं यत्—यस्य साधकस्य मतं ब्रह्मविषये काचित् सुनिश्चितमान्यता तेन न ज्ञातं ब्रह्म, यस्य अमतं दैन्यपूर्णचेतस्त्वात् नैव कश्चनाग्रहः तस्यैव मतमु-उत्तरार्धं पूर्ववत् ।।श्रीः।।

एवं ब्रह्मज्ञाने ज्ञातृत्वाभिमानं निरस्य तत्र सद्गुरूपदेशद्वारं शास्त्रमेव तज्ज्ञानमाध्यमिति द्रढयन् प्राहाचार्यः—

प्रतिबोधविदितं मतममृत्तत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विघया विन्दतेऽमृतम् ।।४।।

प्रतिबोधविदितम् मतम् (अनुतिष्ठन्) अमृतत्वम् विन्दते, हि आत्माना वीर्यम् विन्दिते विद्यया अमृतम् विन्दते, इत्यन्वयः ।

इदानीमाचार्यः ब्रह्मज्ञानमहिमवर्णनच्छलेन तत्र शिष्यप्रवृत्यर्थं ब्रह्मज्ञानफलं विधत्ते प्रतिबोधेत्यादिना–प्रतीतो बोधः प्रतिबोधः गुरूपदेश इति भावः, तेन विदितं ज्ञानविषयीकृतं, मतम्, ब्रह्मसिद्धान्तमनुतिष्ठन् अमृतत्वम्, मृताः मरणधर्माणो मनुष्याः बद्धप्राणिन इति यावत् तेषां मृतानां भावः गुणकर्म वा इति मृतत्वं तद्भिन्नत्वम् अमृतत्वत् संसाराभावरूपं भवबन्धनमोचनमिति यावत्, विन्दते लभते सद्गुरूपदेशेन स्वाचार्यसाधनपरम्परया ब्रह्मज्ञानमतमनुष्ठाय मानवो भवबन्धनात् विमुच्यते इतिः व्याख्यार्थ। यद्वा प्रतिष्ठितः बोधः यस्मिन् स प्रतिबोधः वेदस्योपनिषदो भागः तेन विदितं ज्ञातं पुनः मतं मननविषयीकृतं तादृशममृतत्वं, भवबन्धमोकं, विन्दते प्राप्नोति हि निश्चयेन, श्रुतीनां हि स्वतःप्रामाणस्य सकलवेदान्तवित् सम्मतत्वात्। यद्वा प्रतीक्षितो बोधः प्रतिबोध तेन विदितं तादृशं मननमुपागतम मृतत्वपर्यायं ब्रह्मैव विन्दते, शिष्यो हि चिरकालनिश्छलसेवया स्वाचार्यं समाराध्य सोत्कण्ठचातक इव स्वगुरुस्वातिजलधरसूपदेशस्वातिजलधारां प्रतीक्षते, एवं सुचिरप्रतीक्षाप्राप्तः श्रवणमुपागतः ब्रह्मबोधः नातिचिरेण ब्रह्म वेदयतीति तात्पर्यम्। तथैव जगौ गीतायां श्रीकृष्णः श्लोकद्वयेन—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्षस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४/३४,३५)

यद्वा प्रतिश्रुतो बोधः प्रतिबोधः, तेन विदितम्। अतोऽग्रे पूर्ववत् शिष्याय प्रतिश्रुत्य, हि समुपदिशन्नाचार्यः ब्रह्म वेदयितुं प्रभवति। यद्वा प्रतिज्ञातो बोधः प्रतिबोधः स्वानुभूतश्रुतिसिद्धान्तः, तथा हि बोधः स्वसाधनाजन्यानुभवः तमेव प्रतिगतः प्रतिबोधः तेन विदितं, शेषं प्रथमव्याख्यानवत्। श्रुतिसिद्धान्तो हि स्वानुभूतिमन्तरेण निगदनेन शब्दतो नैवाज्ञानावरणं भिनत्ति। यत्तु बोधं बोधं प्रति प्रतिबोधमिति वीप्सया व्याचक्षते तदनुचितं, ब्रह्मबोधस्याखण्डत्वात् वीप्सायास्तत्रानवकाशात्। न च ज्ञानस्य क्षणिकत्वपक्षस्वीकार इति वाच्यम्, सौगतानां युष्माकमाकाशपुष्प इव मते साराभावान्मत, तन्निराकृतमेव। तस्मात् प्राक्तना एव व्याख्यानप्रकाराः ज्यायांसः। एवं स्वानुभूतश्रुतिसिद्धान्तविदितं ब्रह्म समाम्नाय नचिरादमरपदं प्राप्नोति साधकः। ननु कथं भो! स्वसिद्धान्तविरुद्धं व्याचष्टे भवान् भवतो नये मोक्षस्यानादृतत्वात् सगुणोपासनायां दास्यभंगभिया तदनुपयोगाच्च जन्मैव कथं न चायते। नेत्थं वाच्यं, नाहं सिद्धान्तं

विरूणद्मि तत्रामरपदं श्रीमच्चित्रकूटविहारिमैथिलीहृदयललाम श्रीरामपदकमलं तत्प्राप्तिस्तूभयविधवेदान्ति सम्मतैव । अथ तस्मिन् परमात्मनि प्राप्ते किं स्यात्, किं तंल्लब्ध्वा साधकः साधनात् विरमति, उताहो तत्रैव रमते, आहेस्वित् ततोऽप्याधिकमभीप्सुः प्रयतते ? इत्यन्तरप्रश्नं समाधित्सुराह—ब्रह्मणि प्राप्तेऽपि साधको भजनं न जहाति । अपि तु सः परमात्मा स्वभक्तभजने सहयोगं ददाति । तथाहि आत्मना, परमात्मना भजनक्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकेण करणकारकीभूतेन कौशल्यासूनुनेति भावः । वीर्यम् भजनपराक्रमं विन्दते लभते, भगत्कृपया हि साधकः तादृशं स्वात्मबलं प्राप्नोति येन स्वत एव भजनबाधकान् विघ्नान् विहन्तुं क्षमते । अत्र व्याख्याने प्रहलादविभीषणद्रौपदीमीरातुलसीदासचरित्राण्यनुसंधेयानि । यद्वा विन्दतेंऽवीर्यमित्यत्राकार प्रश्लेषः, तथाहि विन्दते अवीर्यमितिः विग्रहः **अकारो वासुदेवः अक्षराणामकारोऽस्मि** इत्यनुशासनात् । एवमस्य सर्वव्यापकस्य विभून्मः प्रापकं वीर्यं प्रेमतत्वरूपमित्यवीर्यं तच्च आत्मपर्यायवाचिना परमेश्वरेणैव विन्दते लभते । स आत्मा कथं प्राप्येत ? अत आह विद्यया, विङ्क्ते विचारयति ब्रह्मतत्वं यस्यां सा विद्या वेदान्तापरनामधेया ब्रह्मविद्या तया करणभूतया अमृतं मर्त्यभिन्नं अजरममरमविनाशिनमशोकममोहं सच्चिदानन्दसन्दोहं परब्रह्माभिधानं श्रीरामं विन्दते लाभविषयं करोति अपूर्वतया प्राप्नोतीति भावः । विद् लृ लाभे इत्यस्माद्धातोः **कर्तरि कर्मव्यतिहारे** इति सूत्रेण क्रियाविनिमये द्योत्ये ह्यात्मनेपदं क्रियाविनिमयश्चात्र सततमात्मकामे भगवति नित्यप्राप्तिरूपधर्मस्य परमेश्वरकृपया जीवे विद्यमानतारूपः । निष्कर्षश्चात्र—श्रुतिसम्मतोपदेशेन परिज्ञातं समाम्नातं ब्रह्म जीवः प्राप्नोति । केवलं ब्रह्मज्ञानेन न सन्तोष्टव्यं तत् प्राप्तयेऽपि प्रयासः करणीयः इति ध्वन्यते । स कथं प्राप्तुं शक्यः परमेश्वरः, यश्च कोटिवर्षपूगपर्यन्तं तप्यमानैरपि मुनिभिर्दुष्प्रापः ? इति शङ्का समाधातुमात्मनेत्युत्तरार्धः, यदा परमात्मा सद्गुरोःश्रुतोपदेशेन ज्ञायते समाम्नायते च तदा स एव स्वप्राप्तिक्रियायां प्रकृष्टोपकारको भूत्वा जीवाय निजवशीकरणमहौषधं प्रेम प्रापयति स्वयं च वेदान्तविद्यया विद्यते । ननु वेदान्तेन ब्रह्म ज्ञेयं भवति **वेदान्तवेद्यं विभुम्** इति मानसानुशासनात्, अत्र हि वेदान्तलभ्यमिति नोक्तं, सत्यं कर्मभजनप्रतिबन्धकमलनाशे उपासनाभगवद्ध्यानविक्षेपनिरसने ज्ञानं चावरणभङ्गे पर्युपयुक्तं नैव तत् भगवत् प्राप्तौ, अतो विद्यया एतस्य भगवत्प्रेमरूपभक्तिविद्यया इत्येव व्याख्या करणीया, तथैव जीवः भगवन्तं स्व हृदयललितललामतया लभते ।।श्रीः।।

एवं चतुर्भिर्मन्त्रैर्ब्रह्मज्ञानस्य दुष्प्राप्यतां ब्रह्मणोऽनिर्वचनीयतां च विनिर्णीय सम्प्रति जीवस्य कृते तत्प्राप्तिं विधेयतया निर्दिशति, तदभावे च मानवजीवनवैयर्थ्यवर्णनच्छलेन साधकं विगर्हते इहचेदित्यादिना -

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहादेवीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।५।।

चेत् इह अवेदीत् अथ सत्यम् अस्ति चेत् इह न अवेदीत् महति विनष्टिः, धीराः भूतेषु भूतेषु विचित्य अस्मात् लोकात् प्रेत्य अमृताः भवन्ति, इत्यन्वयः ।

मानवजीवनमिदं ब्रह्मप्राप्तौ तद्बोधे च महदुपकारकम् अतस्तत्, प्रशंसन्ती श्रुतिः साधकमवधापयति । चेत् , यदि पूर्वोक्तभगवत्कृपाप्राप्तप्रेमवशीकरणेन इह, अस्मिन् मानवजीवन एव अवेदीत्, परमात्मानमज्ञासीत् । ननु इतः पूर्वस्मिन् मन्त्रे परमात्मलाभः चर्चितः अतः कथं पुनस्तं विहाय परमात्मवेदनं विविच्यते ? इति चच्छृणु—धातूनामनेकार्थत्वात् विदिरपि विद् लृ बोधपरः, यद्वा व्यत्ययो बहुलंमित्यनेन विद लृ धातावेवदादिगणकार्यम् । गणकार्यमनित्यमितिज्ञापकमप्यत्रमानम्। अस्मात् अवेदीत् इत्यस्य अलब्ध इति विवर्णनम् । अथ अनन्तरं सति ब्रह्मणि प्राप्ते सति, मानवजीवनस्य गतार्थता । यद्वा मनुष्यलोके यदि परमात्मानं प्राप्तवान् जीवः तदैव सत्यम्, सते अविनाशिने आत्मने हितम् अस्ति भवति, चेत्, यदि कदाचित् निजप्रमादात् प्रारब्धभजनप्रतिबन्धकप्रत्यूहात् इह, अस्मिन् मानवजीवने न अवेदीत्, न ज्ञातवान् परब्रह्म न लब्धवान् वा तदा महति, महीयसी विनष्टिः, विनाशस्थितिः । एवं धीराः, सुखदुःखसमबुद्धयः साधकाः भूतेषु भेतेषु, नित्यं वर्तमानेषु प्राणिषु प्राणिषु भवन्तीति भूतानि तथा भूतेषु अत्र नित्यत्वद्योतनाय द्विर्वचनम् **नित्यो नित्यानाम्** इतिः जीवनित्यतायां प्रमाणं सप्तमी च औपश्लेषिकी। उपश्लेषश्च द्विधा संयोगात्मकः सामीप्यात्मकश्च परमात्मा हि द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यमनित्यूतान्युपश्लिष्टः तमेव नित्यभावसम्पन्नं समस्तभूतानि संयोगसामप्याभ्यामुपश्लिष्यवर्तमानं विचित्य समन्विष्य अन्तर्यामितया प्रतिप्राणिहृदयनभसि समुदितं नवेन्दुमिव कोशलेन्दुं समवधार्य, अस्मात् दृश्यमानात् लोकात् मर्त्यलोकात् प्रेत्य प्रकर्षेण इत्वा सम्मानपूर्वकं भगवत्प्रेषितविमानेन स्वसुखं प्रारब्धपतितकलेवरपरिहारपूर्वकं साकेतं गत्वेति भावः । अमृताः, प्राकृतजननमरणरहिताः भगवन्नित्यपरिकराः इति भावः भवन्ति, समधिकृतभगवद्कैङ्कर्यसत्तया संयुक्ता सम्पद्यन्ते ।।श्रीः।।

।। इति द्वितीयखण्डः ।।

।। श्री राघवःशन्तनोतु ।।

।। तृतीयो खण्डः ।।

इत्थं खण्डद्वयेन ब्रह्मणोऽनिर्वचनीयता अवाङ्मनसगोचरता चोक्ता, द्वितीये खण्डे च चतुर्भिर्मन्त्रैस्तस्य दुर्ज्ञेयता च प्रतिपादिता । तत्रेत्थं सन्देहः समुत्तिष्ठति—किमिदं विजानतामविज्ञातम् अविजानतां विज्ञातम् एतद् वाग्विलासमात्रम् आहोस्वित् केनाप्यनुभूतचरं, चेदनुभूतचरं तर्हि किं निरवयवं सावयवं वा ? यदि चेत् सावयवं, तर्हि तत्रानित्यतापत्तिः ? यदि चेत् निरवयवं तर्हि सौगतानामिव शून्यं तत्, एवं **सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सर्वरसः सर्वगन्धः** इत्यादि श्रुतयस्तत्र नोपपद्येरन् । नहि अवयविनमन्तरेण सत्यसङ्कल्पत्वादयः गुणाः समुपस्थातुं शक्याः ? इमान् सर्वान् शिष्यप्रश्नप्रतिप्रश्नान् मनसि कृत्वा तार्तीयके समारभते सद्गुरूराख्यायिकां देवगर्वभङ्गनिमित्तां, यत्रावाङ्मनसगोचरत्वेऽपि भक्तप्रेमवशंवदतया भगवतः प्राकट्यम् । निरववत्वेऽपि सावयवत्वम्, अपरोक्षानुभूतिविषयत्वेऽपि दिव्यविग्रहेण सकलक्रियाकलापसंचालकत्वं । ननु एकस्मिन्नेव धर्मिणि कथं विरुद्धद्वयाश्रयता ? यदि निराकारं तर्हि न साकारं यदि चेत् साकारं तर्हि न निराकारम् । मैवं वादीः, भगवतः स्वाभाविकीयं सकलविरुद्धधर्माश्रयता बहुशो मयोक्ता कथं नावधारिता त्वया । भगवान् खल्वतर्कशक्तित्वात् समकालमेव निराकारोऽपि साकारः निरवयवोऽपि सावयवः निर्गुणोऽपि सगुणः निष्प्रकारोऽपि सप्रकारः । अथ तर्हि यद्यद् सावयवं तत्तदनित्यं विनाशशीलत्वाद् घटवत्, इत्यनुमानेन ब्रह्मणः सावयवत्वे तदनित्यता दुर्वारैवेति चेन्न, ईश्वरे एतदनुमानस्य प्रसरासम्भवात् **द्यावा भूमी जनयन्देव एकः** इत्यादि श्रुत्यनुरोधेन, तत्र सावयवत्वेऽपि नानित्यता । ननु मया दत्तमनुमानमपि कथं त्वयानलप्यते ? श्रुत्यनुरोधेन, यतो हि शब्दप्रमाणकाः वयं श्रुतीनां स्वतः प्रमाण्यं सर्वतन्त्रसिद्धं तद्व्याहन्तुं परमेष्वरोऽपि न प्रभवति किं त्वादृशाः । अथ परमात्मनः शरीरत्वे सुस्पष्टं प्रमाणं देहीति चेत् कृपया तैत्तरीये **आकाशशरीरं ब्रह्म** इति सुस्पष्टं प्रमाणं स्वीकुरु । अतो हेतोः तावकीनमनुमानं श्रुतीर्विरूणद्धीति नादरतव्यं तत् । नहि संसारिणामुपमया परमात्मोपमातव्यः । ननु तत्र आकाशशरीरं ब्रह्म इति श्रुतौ आकाशं शरीरं यस्य तथाभूतमिति बहुब्रीहिसमासेन निरवयवत्वादाकाशस्य ब्रह्मणोऽपि निखयवत्वे, कथं तत् सावयवतायां भवतामाग्रहः । श्रुत्या ब्रह्मणः शरीरे प्रमाणिते तत्र त्वादृगेव कश्चन मन्दबुद्धिः कल्पयिष्यति निरवयवताम् । नहि कदापि शरीरं निरङ्गं भवति । अवयवानां समुदाय एव हि शरीरव्यवहारभाक् । तस्माद् **आकाश शरीरं ब्रह्म** इति श्रुतौ उपमामूलकबहुब्रीहिसमासविग्रहो विधातव्यः एवं हि आकाशमिव शरीरं यस्य तथाभूतं ब्रह्म इति विग्रहः । अथ भवता संस्थापिते आकाशशरीरयोरुपमानोपमेयभावे कथन्नाकाशगतो

निरवयत्वरूपधर्मः शरीर आरोप्येत् । श्रुति विरुद्धत्वात् उपमेयप्रतिकूलत्वाच्च । अथ ब्रह्मशरीरे नभसो निरवयवत्वारोपे को विरोधः श्रुतेरितिचेच्छ्रूयताम्–श्रुतौ हि सुस्पष्टं परमेश्वराङ्गानां वर्णनं तद्यथा—**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतोबाहुरूत विश्वतष्पात्** एवमेव प्रतिकूलतोपमेयस्यापि यथा चन्द्र इव मुखमित्यत्र मुखे चन्द्रस्याह्लादकत्वं समारोपयन्नपि कोऽपि सुधीस्तद्गत धवलिमानं नारोपयत्यानने, तद्विरुद्धत्वात् चन्द्र इव श्वेतमाननन्तु कुष्ठिनां प्रसिद्धं न तु कस्याश्चित् सौन्दर्यशीलसीमन्तिन्याः । एवमत्रापि न गगवन्निरवयवत्वं शरीरे नारोयपयितुं शक्यं तद्विरुद्धत्वात् । विरोधश्चोपमेयासम्भवरूपः । भवतु नाम ब्रह्मशरीरे व्योम्नो नीलिमत्वव्यापकत्वसर्वावकाशत्वनिर्लोपत्वसलिलवर्षकत्वादि भूयो धर्मारोपः । एवं निरवयवोऽपि स्वलीलया दिव्यान्यङ्गानि प्रकटीकृत्य जनानामनुजिघृक्षया स्वभक्तमनोरथान् पूरयति । इदं परमेश्वरस्य लीलाविर्भावचरित्रं तन्मिषेण ब्रह्मविद्या महत्वं च वर्णयन् प्रारभत आख्यायिकामिमाम् -

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति।।१।।

ब्रह्म देवेभ्यः विजिग्ये, ह तस्य ब्रह्मणः विजये देवाः अहमीयन्त, ह ते ऐक्षन्त अयम् अस्माकम् एव विजयः अयम् अस्माकम् एव महिमा इति, इत्यन्वयः ।

ब्रह्म, अतिशयेन वर्धनशीलं बृहत्तमं वा, देवेभ्यः दैवीसम्पदमाश्रयतां सुराणां हिताय अत्र तादर्थ्ये चतुर्थिः । विजिग्ये, दानवान् निहत्य व्यजयत, परोक्षलिट्-प्रयोगेण घटनाया अति प्राचीनकालिकत्वं सूचितम् । ह, प्रसिद्धमेतत् तस्य ब्रह्मणः, सगुणसाकाररूपस्य पराक्रमशालिनः परमेश्वरस्य दानवपरिभवमूलके देवाः इन्द्रादयः अमहीयन्त महिम्ना समयोज्यन्त, ह, इति प्रसिद्धौ, ते देवाः भगवल्लब्धबलतेजःपराक्रमाः ऐक्षन्त इत्थं मिथ्या निश्चितवन्तः यत् अयम्, दानवेषु अस्माकम् एव, अग्निपुरोगमानां सुराणामेव नान्येषां विजयः, जयः अयम्, एषः संग्रामेऽसुरकदनरूपः अस्माकमेव, रणश्श्लाघिदैवतानामेव महिमा, महत्ता इति, शब्दोऽयमभिमानप्रकारसूचकः ।।श्रीः।।

इत्थं धनैश्वर्यमदमत्ताः भगवतैव दत्तशक्तिका अप्यात्मानं जैत्रं मन्यमानाः सुमनसः सदर्पाःजाताः येनैषां दैवीसम्पद्विनाशसंकट आगतः । दर्पाभिमानौ हि आसुरीसम्पदो लक्षणे तथा हि गीतायाम्—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारूष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।

(गीता १६-४)

आभ्यामेषां दैवीसम्पदि नष्टायामासुरभावमागते भवबन्धनसम्भावना समभवत्। निबन्धायासुरीमता इति तन्निराचिकीर्षया भगवता प्रादुर्भाव लीलाप्रकट्यते तदित्यादिना–

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ।।२।।

ह तत् एषाम् (तत्) विजज्ञौ, तेभ्यः प्रादुर्बभूव ह इदम् यक्षम् किम् इति तत् ते न व्यजानत, इत्यन्वयः ।

इ इत्थं प्रसिद्धं वर्तते यत् तत् तनोमीति तथाभूतम् एषाम्, ईश्वरं मन्यमानानां पावकादीनां तत्, अभिमानदूषितहृदयं विजज्ञौ, सर्वज्ञतया विदांचकार । तेभ्यः तेषामभिमनशमनेन कल्याणचिकीर्षया प्रादुर्बभूव अशेषगुणगणनिलयं प्रकटित सगुणसाकाररूपमाविर्बभूव । ह प्रसिद्धौ, इदम् देवनयनगोचरं यक्षं, ईज्यते पूज्यते तथाभूतं यज् धातोः **उणादयो बहुलम्** इत्यनेन स प्रत्यये जकारस्यकुत्वे षत्वे यक्षमितिसिद्धम् । ब्रह्म हि सर्वत्र पूज्यमानं, यद्वा ईज्यते सद्भिः संगम्यते इति यक्षम्, सन्तस्तेनैव ब्रह्मणा संगच्छन्ते । यद्वा यजते भक्तेभ्यः ईप्सितार्थं ददाति इति यक्षम् अत्र कर्तरि स प्रत्ययः शेषं पूर्ववत् । ननु एतत् व्युत्पत्तित्रये किम्मानम् ? यज् धातोः पाणिनेरनुशासनमेव तद्यथा– **यज् देवपूजा संगतिकरणदानेषु** । यद्वा ईः भगवती सीता अक्षि नेत्रमिवप्रिया यस्य तद् यक्षम् श्रीसीताभिरामं श्रीरामाभिधं ब्रह्म । यद्वा अकारो वासुदेवः तस्यापत्यं पुमान् इति इः अत्र भत्वादकारलोपे समवशिष्टः सानुबन्ध इ प्रत्ययः यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी इति पातञ्जलवचनेन लुप्ताकाररूपप्रकृत्यर्थमभिधत्ते । एवं इः वासुदेवात्मजः कामः अभिभूतः अक्ष्णा नेत्रेण यस्य तत् यक्षं, किम्, किं प्रकारकं वस्तु इति, इत्थं यक्ष परिचयं ते, सुराः न व्यजानत, नैव विविच्य ज्ञातवन्तः । एवं तथाभूतमनिर्वचनीयं सर्वाश्चर्यमयं यक्षं दृष्ट्वा देवाः प्रथमग्निं प्रेषयितुमुपक्रमते–

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ।।३।।

ते देवाः अग्रे नियत इत्यग्निः, पृषोदरादित्वात् अग्र घटकरकारलोपःणि धातोरिकारलोपः इच् प्रत्ययश्च । स एव वैदिकप्रथमदेवता तथा च समस्तवेदराशेः प्रथममन्त्रे **अग्नमीले पुरोहितम्** इति समकीर्तयत् श्रुतिः । तादृशं स्वकीयमग्रने–तारमग्निम् अब्रुवन्, अकथयन्–जातवेद ! जातं, समुत्पन्नं सर्वप्राथम्येनोद्भूतमिति भावः वेदः ब्रह्मज्ञान मित्यर्थः । एतत् इदं दृश्यमानं यक्षं यजनशीलं महद्भूतं विजानीहि विशेषेणावगच्छ किम्, किं प्रकारकम् इति, एवं प्रकारेण देवा अग्निं विज्ञापयामासुः । तथेति, तथा इति अग्निः प्रार्थनां स्वीचक्रे ।।श्रीः।।

दवेप्रार्थनानन्तरं संघटितघटनां सूचयति—

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।।४।।

अत्र अनुपपत्या अभ्यद्रवदित्यस्य अग्निराख्यातः समाक्षिप्यते। तथा च अग्निः देवविज्ञापनानुसारं तत् सुराणां बुद्धिपारोक्ष्ये विराजमानं यक्षम् अभ्यद्रवत्, द्रुतमभ्यगच्छत्। तत् यक्षं स्वाभिमुखमागतं तम् , अग्निम् अभ्यवदत् , अभिनन्द्यापृच्छत् अग्निस्तु द्रुतमभिगत्य तत् प्रभया घर्षितः तूष्णीमतिष्ठत्। यक्षमेव तदभिमाननिनाशयिषया तं पर्यपृच्छदिति तात्पर्यम्। कः प्रश्नाकारः इत्यत आह–भो, त्वं कः असि किमभिधानोऽसि किं प्रयोजनो द्रवन्नागतोऽसि ।।श्रीः।।

इति, इत्थं कृतप्रश्नम् अग्निरूदतीतरत् द्वाभ्यां प्रसिद्धनामभ्याम् अहं तव पार्श्वे समागतः अग्निः, एतन्नामकः वा, सर्वप्रसिद्धः अस्मि, भवामि। इत्थं परिचयदत्तेपि यक्षमकृतप्रतिक्रियं विभाव्य भूयः प्राह साक्षेपमग्निः–अहम्, तव पुरोवर्तमानः वा, सर्वप्रसिद्धः तथापि न तव कर्णगोचरः जातवेदाः, सर्वज्ञः अस्मि भवामि इति, अनेनकाकुना अब्रवीत्, अवदत् इति, इत्युक्त्वा विरराम।

इत्थं वैशिष्टयद्वयेन दत्तपरिचयं सावलेपं जातवेदसं यक्षरूपः परमात्मा पृच्छति,

तस्मि ँ स्त्वयि किं वीर्यमिति । अपीद ँ सर्वं दहेयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ।।५।।

व्याख्या— यक्षमपि सावक्षेपमप्राक्षीत् यत् हंहो तस्मिन् निजोक्तविशेषणद्वयविशिष्टे त्वयि, मत्पुरोवर्तमाने भवति अग्नौ जातवेदसि किं वीर्यम् ? किं प्रकारकं सामर्थ्यं तद्व, इति एवं पृष्टवति यक्षे अग्नि इति सगर्वो व्याहरत्–पृथिव्याम्, उपलक्षणमेतत् पृथिवीसहिते निखिलब्रह्माण्डे यत् इदम्, यत्किमपि इदं प्राणेन्द्रियगोचरं स्थावरजङ्गमं वर्तते इदं सर्वम्, दृश्यमानमेतत् सकलं प्रपञ्चं दहेयम्, दग्धुं शक्नोमि। अत्र **शक्तिलिङ्** इत्येनन शक्यार्थे लिङ्लकारः, अपि निश्चयेन इति एतन्निगद्य व्यरमत् ।।श्रीः।।

इति परमकारुणिकः श्रीहरिः अग्निदर्पं जिघांसुः लीलाशक्त्या तृणमेकमाविष्कृत्य तद्दाहाय जातवेदसं नियुञ्जानः प्राह -

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।६।।

तस्मै अग्नये अत्र हितयोगे चतुर्थी, यक्षनामा परमेश्वरः तृणम्, स्वलीलानिर्मितं सन्निहितसकलसामर्थ्यं लंघितुं गुल्मविशेषं निदधौ, निराधारेऽप्याकाशे संस्थापयामासेति

भाव: । तमवदच्च–हे चराचरदहनसामर्थ्यशालिन् अग्ने ! एतत्, मन्निहित् तृणं दह, भस्मसात् कुरु, तत् यक्षनिर्देशानन्तरं पावकः तत् तृणं दग्धुं, सर्वजवेन सर्वश्चासौ जवः सर्वजवः तेन सम्पूर्णवेगेनेति भावः उपप्रेयाय प्रकर्षेणोपागच्छत् । इत्थं यक्ष निर्दिष्टोऽपि सम्पूर्णवेगं प्रयुञ्जानस्तत् भगवदीयतृणं दग्धुं भस्मकर्त्तुं न शशाक, नैव सेहे । स, एवं भग्नसंङ्कल्पः तत एव, तस्मात् यक्षसमीपस्थानादेव निववृते, प्रतिनिवृत्तो बभूव, अवोचच्च देवान्–यत्, प्रकारकम् एतत्, इदं यक्षम्, सर्वसङ्गतं परब्रह्म इति, इत्थं रूपेण विज्ञातुम्, वेदितुम् अहम्, जातवेदाः अग्निः न अशकम् नैव सोढवान् एतत्, इदं कार्यं सम्पादयितुम् ।।श्रीः।।

अथाग्नितो निराशाः देवाः वायुं प्रेषयितुमुपक्रमन्ते—

"अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षतमिति तथेति ।।७।।

अथ, अग्न्युत्तरान्तरं देवाः वायुम्, वातीति सर्वत्र गच्छति गन्धं वहति वा यः स वायुः तम्, यद्वा गन्धनमिह सूचनं तथाहि वाति सूचयति तथाभूतम् अब्रुवन् , अवदन्—वायो, हे सर्वगन्धसूचक ! त्वमेव एतद्, अस्मज्जिज्ञासितं, विजानीहि विशेषेणावेहि यत् किं गुणकमस्मन्निकटवर्ति यक्षम् , अस्मद् वृत्या संगच्छमानम् इति, इत्थं निर्दिश्य देवा विरता इति भावः । तथा इति, देवनिर्देशम् तथैव करिष्यामीति स्वीचकार वायुः ।।श्री।।

अथ वायुः किमकरोत् इत्यत आह—

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति ।
वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन् मातरिश्वा वा अहमस्मीति ।।८।।

वायुः तत् यक्षम् अभ्यद्रवत् द्रुततरं समीपमगमत् । यक्षं तम् स्वसमीपस्थं वायुम् अभ्यवदत् , अभिनन्द्यापृच्छत्–भोः कः असि, किन्नामधेयोऽसि ? वायुः अब्रवीत्, प्रत्युत्तरयामास–अहं, त्वत् समीपमागतः वा, सर्वप्रसिद्धः वायुः सर्वगः सर्वसूचकश्च अस्मि, भवामि तस्मिन्नोत्तरयति भूयः प्राह—वा, सुख्यातः मातरिश्वा, मिमीते शब्दं करोति इति माता आकाशं तस्मिन् स्वयति गच्छतीति मातरिश्वा अस्मि, भवामि इति, इत्थमुत्तरयति स्म ।।श्रीः।।

एवं वायौ दत्तोत्तरे तस्य दर्पं हन्तुं श्रीहरिरपृच्छत्—

तस्मिँस्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीदँ सर्वमाददीयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ।।९।।

तस्मिन् त्वयि एवं भूते भवति, किं वीर्यमिति, किं बलम् इति यक्षे पृष्ठवति वायु: प्रत्यवोचत्–पृथिव्यां यदिदम् , ब्रह्माण्डेऽस्मिन् यच्चराचरम् इदं सर्वम् आदिदीयम्, इदं सकलं प्रपञ्चमुत्क्षेप्तुं शक्नोमि इति, इत्थमुत्तरायामास ।।श्री:।।

अथ तद्दर्पनिराकरणाय श्रीहरि: निर्मितचरं तृणं प्रदर्शयन् प्राह,—

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ।।१०।।

तस्मै, वायवे तृणं निदधौ, तदाकाशे गुल्मविशेषं निर्यात् निर्दिशच्च भगवान्–भो वायो ! एतद्, क्षोपिष्ठं तृणम् आदत्स्व, उत्थापय इति, एवं निर्दिष्टो वायु: सर्वजवेन , सर्वसामर्थ्येन तत् , तृणमादातुम् उपप्रेयाय, समीपमगमत् तत् , लघुतमं तृणाम् आदातुम् , गृहित्वोत्त्थापयितुं न शशाक, न सेहे । स, भग्नसङ्कल्प: वायु: तत एव निववृत्ते, तस्मात् स्थानात् परावृतो बभूव । उदतीतरच्च–एतद् वि विज्ञातुं, वेत्तुं न अशकं, न सफलोभवम् एतद यक्षं किमिति, पुरो वर्तमानं यक्षं किं भूतमिति ।।श्री:।।

अथाग्निपवनयो: जिज्ञासाशान्तावसमर्थयो: सुरा: बृहस्पतीशिष्यं पण्डितप्रकाण्डमिन्द्रं प्रेषयितुमीहन्ते–

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति । तथेति । तदभ्यद्रवत् । तस्मात् तिरोदधे ।।११।।

अथ, अनन्तरम् इन्द्रम् अब्रुवन् , इदि ऐश्वर्ये इन्दति ऐश्वर्यवान् भवतीति तथाभूतमिन्द्रं देवा: न्यवेदयन्—मघवन् । एतद् विजानीहि, हे सकलैश्वर्यशालिन् ! एतद् विविच्य अवगच्छ किमेतद् यक्षमिति, इदं महद्भूतं किं वस्तु । तथा इति, इन्द्र: प्रार्थनां स्वीकृत्य तत् अभ्यद्रवत् , जिज्ञासु: सन् परमातुरो यक्षमुपगत: अधिकाभिमानिनं तं ज्ञात्वा तत् सगुणसाकारं परमपूज्यं सर्वज्ञङ्गलं सर्वकामदायकं ब्रह्म तस्मात् , अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी, तमवेक्ष्य यद्वा तस्मादिति स्थानविशेषणं यत्र यक्षं तिष्ठति स्म तस्मात् स्थानादिति भाव: तिरोदधे, अन्तर्दधे तस्मै स्वरूपमपि नादर्शयत् संवादस्य का कथा ।।श्री:।।

यद्यप्यग्निवायू यक्षेण सह वार्तां विधाय ततो भग्नसङ्कल्पौ निववृताते, इन्द्रस्तु साक्षात्कारावसरमपि न लेभे । परन्तु निराशो भूत्वा ततो न निवृत्त: तज्जिज्ञासया प्रयत्नमारब्धवान् । अतस्तत्फलमपि तेन प्राप्तमिति वर्णयति उमासाक्षात्कारव्याजेन ।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना मुमाँ हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद् यक्षमिति ।।१२।।

सः, जिज्ञासुरिन्द्रः तस्मिन् एव आकाशे, यक्षाधिष्ठितचरे बहुशोभमानाम् , अनिन्द्यसौन्दर्यसम्पन्नां स्त्रियम् , स्त्रीशरीरधारणीं वात्सल्यमयीम् उमाम् , उः शम्भुः तस्य ओः शम्भोः मा शक्तिः तथा भूतां हैमवतीं, हिमवान् हिमाचलः तस्य गोत्रापत्यं स्त्री हैमवतीं तां हिमाचलपुत्रीमि इत्यनेनावतारवादोऽपि श्रुत्यैव सूचितः। या हिमाचलराजगृहे समवतेरे या च शिवेन परिणीता तामेव परमवात्सल्यमयीं सौभ्याग्यवतीं वधूचितभूषणभूषितां भगवतींमाजगाम, सद्गुरूं कृत्वा महता समादरेण समागच्छत् इति भावः **नास्ति मातृ समो गुरूः** इति स्मृतेः। ताम् , भगवतीं पार्वतीं प्रणम्य सम्पूज्य उवाच, जिज्ञासांचक्रे-किमेतद् यक्षमिति, एतद् यक्षं दृश्यमानं किमासीत्, इति शब्दः जिज्ञासा विरामसूचकः।

।। इति तृतीयः खण्डः ।।

।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ चतुर्थ खण्डः ।।

एवमग्निवातेन्द्रदर्पघ्नं निःशेषक्लेशशमनं भक्तानुग्रहकातरं सगुणसाकारविग्रहं परब्रह्म महता यत्नेनापि पुरन्दरो न विज्ञातुं प्राभवत्। तथाविधं जिज्ञासमानं तमवेक्ष्य स्वयं ब्रह्मविद्येव साक्षादुमा तत्कल्याणं चिकीर्षुः समुपदिदेश। ननु परमपुरुषार्थं ब्रह्म निगदितुं कथन्नागान्महालक्ष्मी कथं नागाद्वा वागधिष्ठात्री देवता सर्वविद्यामयी स्वयं सरस्वती ? साधु पृष्ठम्। सरस्वत्यास्तु वाङ्मयत्वाद्वाचश्च जडेन्द्रियतया विशुद्धचैतन्यघने ब्रह्मणे प्रसराभावात् तदधिष्ठातृदैवतगन्धोऽपि न शङ्कनीयः, महालक्ष्मीश्च सीताभिधा सा च रामाभिधानान्महाविष्णुतः सर्वथैवानन्या, यथा यक्षभूताय ब्रह्मणे इन्द्राभिमुखं स्वप्राकट्यं नारोचत् तथैव तस्या अपि। एकमेव ब्रह्म महाविष्णुमहालक्ष्मीरूपेण द्वन्द्वमिव विभाति **स वा कुमारः उत् वा कुमारीं** इति श्रुतेः। अथ कथमत्र भोः उपनिषद्यत्र यक्षशब्दः बहुशः क्लीबे पठितः पुलिङ्गे यक्षशब्दस्य कुबेरगणाभिधेये योनिविशेषे प्रसिद्धत्वात् ? ततो वैलक्षण्यं प्रतिपादयितुमिति ब्रूमहे यद्वा स्वतन्त्रा श्रुतिः तदभिप्रायोद्घाटने के वयं वराकाः।

अथ यक्षदर्शनाय समागतस्य शक्रस्य पुरस्तिरोधानेन घनदर्पे पुरन्दरे लौल्यमूल्यकं वैक्लव्यं विलोक्य सगुणा भक्तिः साकारा भगवत्युमा वासववत्सला प्राह—

सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।१।।

सा, उमा यद्वा स्यति इन्द्रसंशयराशिं खण्डयति तथाभूता इन्द्रजिज्ञासा समाधात्रीति भावः । ह निश्चयेन उवाच इन्द्रं प्रत्युक्तवती, वचनप्रकारमाह—ब्रह्म इति यदग्निवायुदर्पघ्नं-यच्च त्वयापि दृष्टमात्रं किन्तु त्वयि महान्तमभिमानं विभाव्य नैव चर्चामचिकीर्षत् त्वया सह, तत् यजनसामग्रीयुक्तं यक्षं ब्रह्मैवासीत् । इति इत्थमुपदिष्टः छिन्नसंशयः ततः तदनन्तरं ह निश्चयेन एव अन्ययोगव्यवच्छेदपूर्वकं तन्महद्भूतं ब्रह्म, अशेषदोषशून्य मनादिमजमव्यक्तं परब्रह्मैवासीत् इति, इत्थं विदाञ्चकार, जज्ञौ ।।श्रीः।।

एवं ब्रह्मज्ञानसम्पन्नः सर्वप्राथम्यमभजत् तमेव हेतुं स्पष्टयति—

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।२।।

उमया ब्रह्मेत्युक्तमात्रमवगम्य इन्द्रः ब्रह्म ज्ञातवान् अनन्तरमागत्य तद्विषये अग्निवायू अपि तद्ब्रह्म विज्ञापयामास । पश्चात् इन्द्रवाय्वग्निभिः सर्वेदेवाः ब्रह्मोपदिष्टाः इति सुराणां ब्रह्मविद्यापरम्परा । इन्द्रः सन्नपि महाभिमानी समुपलभ्य सद्गुरुमुमां तद्दर्शनेनैव निरस्तब्रह्मबोधप्रत्यवायतया ब्रह्मेति सकृदुच्चारणेनैवोमायाः सपद्युपजगाम, एतेन ब्रह्मविद्याप्राप्तेः सद्गुरुकृपायत्तता सूच्यते । तमेव राद्धान्तं विवृणोति-तस्मात् हेत्वनुवादोऽयं यतस्ते ब्रह्मज्ञातवन्तस्ततो हेतोः, वा निश्चयेन एते देवाः इमे पावकपवनपुरन्दराः अन्यान् देवान् , वरुणसूर्यशशांकादीन् अतितराम् , शेरत इति शशः । अत्यरिच्यन्त अतिक्रान्तवन्तः । इव यथा लोक उपमापरोऽप्ययमिवशब्दः वेदे निश्चयपरः । ब्रह्म ज्ञात्वा इमेदेवाः निश्चयेन सर्वान् देवान् समतिशेरत इति भावः । कथमतिशयत्वमेषां सर्वेभ्यः ? इत्यत आह—यत् , यस्माद्धेतो ते, पूर्वोक्ताः अग्निः वायुः इन्द्रः, हुताशनः समीरः पाकशासनः हि, निश्चित्य एनत्, अन्वादेशे इदं रूपं पूर्वदृश्यमानं नेदिष्ठम्, अतिसमीपस्थं यक्षं ब्रह्म प्रथमः, क्रियाविशेषेणभूतोऽपि क्लीबे वर्तमानोऽपि **सुपां सुलुक्** इत्यनेन अमः स्वादेशे रूत्वे विसर्गे प्रथमः प्रथममित्यर्थकः । तथा हि सर्वप्रथमं पस्पृशुः, चक्षुषा रूपावच्छेदेन तद्ब्रह्म स्पृष्टवन्तः । यतो हि ते, अग्निवाय्विन्द्राः एनत् , पुरोदृश्यमानं परमात्मतत्त्वं चाक्षुस्साक्षात्कारविषयीकृत्यापि प्रथमं ब्रह्म इति, इदं ब्रह्मैव एवं रूपेण विदाञ्चकार **व्यत्ययोबहुलम्** इति सूत्रेण विदान्ञ्चक्रुः इत्यर्थे विदाञ्चकार इति प्रयोगः, ज्ञातवन्तः इति भावः ।।श्रीः।।

एषु कतमः सर्वश्रेष्ठः इत्यत आह—

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।३।।

तस्माद्धेतोः इन्द्रः अन्यान् अग्न्यादीन् देवान् अतितरामिव अत्यशेत, स एव एनत् ब्रह्म नेदिष्ठं पस्पर्श चक्षुरिन्द्रियविषयं कृतवान्, स एव प्रथमं एनत् ब्रह्म परमेश्वरतया विदाञ्चकार ज्ञातवान्। अतएव श्रुतिरपि **स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा** इति सर्वप्रथमं स्वस्त्ययनमिन्द्रमेव जगौ।

एवमनया समाख्यया ब्रह्मणः सगुणसाकारतां जिज्ञासुनयनगोचरतां प्रपन्नदर्पघ्नप्रकृतिं च निरूप्य सामान्यजनबुबोधयिषया परमेश्वरस्य साक्षात्कारे उपमाद्वयं प्रदर्श्य श्रुति-रनुभवपरिस्थितिं वर्णयति—यत् अनिर्वचनीयमपि ब्रह्म यतमानसाधकहृदयाकाशे क्षणं स्वप्रकाशं तथैव स्फोरयति यथा चपलायाश्चमत्कृतिः क्षणं च तथैवावरणं भिनति यथा निमेषस्य निमेषणम्। इदमेवास्य देवसम्बन्धिस्वरूपम् महात्मान एवानुभूतौ विजनेऽनुभवन्ति।

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो यद्युतदा इतीन्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम्।।४।।

तस्य, ब्रह्मणः पूर्वोक्तदेवत्रितयदर्पघ्नस्य परमेश्वरस्य सर्वथा निरुपमस्य साधक प्रतीतये, एषः अयम् आदेशः, उपमासहितोपदेशः, यत् यथा एतत् इदं विद्युतः चपलायाः, व्यद्युतद् अत्र वि उपसर्गपूर्वक द्युत् धातोः लुङ्लकारप्रथमपुरूषैकवचनान्तरूपं **द्युद्भ्यो लुङ्** इति परस्मैपदं पुषादित्यनेन अङ् प्रत्ययः। तात्पर्यमेतत्—यथा चपलायाः प्रकाशः अद्योतिष्ठ, आ अयं शब्दः उपमापरः इवार्थोऽव्ययः, तथैव साधकस्य हृदये परमात्मनः क्षणिकस्फुरणं, यदेतद् यथा इदं न्यमीमिषद् मिष् धातोः स्वार्थे णियजन्तलुङ्लकाररूपम् आ, इव यथानेत्रं न्यमिषत् तद्वत् परमात्मपि साधकस्य ज्ञाननेत्रं क्षणमात्रं यावत् नेत्रं निमेषयति। यद्वा नात्र स्वार्थणिजन्तं प्रत्युत् हेतुहेतुमद्भावमूलकम्। उभयत्र लुङ् लकारार्थोऽविवक्षितः वर्तमानकालेऽपि विद्योतने अख्यातार्थो स्वार्थं त्यजन् भावमात्रबोधकः। तत्, अधिदैवत् देवसम्बन्धिनिरूपणं साधकस्य हृदये उत्कण्ठा समुज्जागरार्थं विद्युतो विद्योतनमिव क्षणं प्रकाशते नेत्रस्य निमेषणमिव क्षणमावरणं भङ्त्वा तिरोभवति। श्रीभागवते नारदकृतभगवद्दर्शनं, मानसे सुतीक्ष्णहृदये श्रीरामप्राकट्य प्रसंगश्च प्रमाणम्। वस्तुतस्तु इदं साधकानामनुभवगम्यमेव तद्यथा—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्भिन्नचेतसः।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः।।

(भागवत १/६!१८)

मानसे यथा—

अति सय प्रेम देखि रघुवीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा।
मुनिमग माँझ अचल ह्वै बैसा। पुलक शरीर पनस फल जैसा।। श्रीः।।

(मानस ३/१०!१४,१५)

इदानीं ब्रह्मणोऽध्यात्मिकं रूपं वर्णयति अथेति—

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः ।।५।।

अथ आधिदैविकोदाहरणानन्तरम् अध्यात्मम्, अधिकृतः आत्मा येन तथाभूतम्, आत्मनोऽध्यक्षं परमात्मानं स्वानुभूत्या समुदाहरामः—यत्, यस्मिन् काले मनः, साधकानां मनोवृत्तिः एतत्, विशिष्टाद्वैतं गच्छतीव, सामीप्यं प्राप्नोति इव। क्रियमाणसाक्षात्कारं प्रतीयते इति भावः। यत्, यस्मिन् काले एतत्, इदं सर्वेन्द्रियागोचरम् अभीक्ष्णम्, सततं व्यवधानशून्यम् उपस्मरति, उपश्लिष्य ध्यायति, अनेन मनसा सङ्कल्पः, तद्दर्शनप्रवृत्तिरूपः क्रियते इति शेषः तदेव अध्यात्ममिति शब्दार्थः। भावस्त्वयं-यद्ब्रह्मणो द्वे रूपे प्रसिद्धे एकं सगुणं साकारं जननयनगोचरं **सहस्रशीर्षा पुरुषः मृगो न भीमः कुचरोगिरिष्ठाः** इत्यादि श्रुतिप्रमाणमूलम्। द्वितीयं च निर्गुणनिकारम् अनुभवगम्यं, सगुणसाकारम् अत्राधिदैवतपदेन सङ्केतितं निर्गुणनिराकारञ्च कीर्तितमध्यात्मपदेन, सगुणसाकाररूपं भक्तिप्रवणचेतसामस्मादृशां निर्गुणनिराकारं मस्तिष्कप्रधानानां ज्ञानवादिनाम्। अत्र मन्त्रद्वये क्रमेण द्वयोरपि मार्गयोः श्रुत्यनुमोदितत्वात्। केवलं निर्गुणब्रह्म इति प्रौढिवादं प्रकटयन्तः सगुणब्रह्मैव केवलम् इति प्रलपन्तश्च ब्रह्मणो ह्येकैकतररूपपक्षपातितया निरस्ताः यथाधिकारं रूपद्वये आनन्दोऽनुभवितुं शक्यः। अवधेयमेतत् यदुभयत्रापि साकारनिराकाररूपयोः परमेश्वस्याकाराः न निषिद्ध्यन्ते **रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव** इति श्रुतेः। मनसः सूक्ष्मत्वात् तत्रेश्वरः स्वस्मिन्नाकारा न् निर्लीनान् कृत्वा तिष्ठति तदा निराकारो भवति, निर्लीना आकाराः यस्मिन् स निराकारः परञ्च भक्तानां नयनानन्ददित्सया प्रकटिताकारैः सह वर्तमानः साकारोऽभिधीयते। इयमेव व्याख्या सगुणनिर्गुणयोरपि ज्ञेया विस्तररस्त्वन्यत्र विधास्यते ।।श्रीः।।

एवं निर्गुणसगुणयोः समन्वयं श्रुतिप्रामाण्यं किञ्चित्तात्विकमन्तरञ्च व्याख्याय सम्प्रति तदुपासनमेव विधेयतया वर्णयति—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ।।६।।

तत्, निर्गुणसगुणरूपं ब्रह्म, ह समस्तश्रुतिप्रसिद्धं तत् वनम्, वन्यते संभज्यते तथभूतं, तेषां समस्त प्राणिनां वनम् सम्भजनीयम् इति तद्वनं द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति इति न्यायेन तदेव द्रढयति । यतस्तत् ब्रह्म सर्वेषां वननीयम् अतो हेतोः तद्वनं नाम, इति प्रसिद्धौ तद्वननाम्ना प्रसिद्धमिति भावः । इति, एवं रूपेण तत् समस्तप्राणिभजनीयं मत्वा उपासितव्यम् उपासनाविषयीकर्तव्यम् अनन्यमनसा सद्गुरूपरम्पराप्राप्तवैष्णवपद्धत्या समाराधनीयमितिभावः । सः, तथाभूत शरणागतः यः, कोऽपि साधकविशेषः एव, सकलप्राणिभजनीयतया एतत्, इदं ब्रह्म वेद, तत्वतो जानाति एनम्, इमं ब्रह्मज्ञं सर्वाणि भूतानि, सकलजीवजातानि अभिसंवाञ्छन्ति, सर्वतोभावेन निजपथप्रदर्शकतया स्वीकुर्वन्ति ।।श्रीः।।

इदानीमुपनिषदुपसंहारं सूचयन् प्राह देशिक पूर्वं शिष्यप्रश्नमनुवदति कीदृगनुवादः इत्यत आह—वत्स ! सर्वप्रथमं त्वं मामित्थं पृष्टवानासीः । प्रश्नाकारं दर्शयति—

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूमेति ।।७।।

भोः सद्गुरो ! उपनिषदम्, उपश्लिष्यब्रह्म निषीदतीत्युपनिषद् तथाभूतां (मे) ब्रूहि कथय इति त्वया प्रार्थ्यमानेन मया आचार्येण ते, तुभ्यं जिज्ञासवे, वा इति प्रसिद्धौ, उपनिषद्, ब्रह्मरहस्यप्रतिपादकश्रुतिततती उक्ता, स्पष्टं निगदिता इयमेव मुख्या । नैवेतां व्यतिरिच्य काचित् साधनापद्धतिः अतो भूतो व्याहरति—ते तुभ्यं व, प्रसिद्धौ ब्राह्मीं, ब्रह्मणः इयं ब्राह्मी ताम् अद्वारकभगवन्महिमप्रतिपादनपराम् उपनिषदं, केनोपनिषदमिमाम् अब्रूम, अकथयाम इति, समाप्तिसूचकमव्ययम् । केचिदत्र उपनिषदं ब्रूहीत्यंशेन पुनः शिष्यप्रश्नं समुत्थापयन्ति तदनुचितं, नैव शिष्योऽसौ समुत्थापक इव सामान्यबुद्धिः, नाहं मन्येति, श्रुतौ तस्य विदितवेदितव्यत्वप्रसिद्धेः तस्मान्मम पक्ष एव समीचीनः ।।श्रीः।।

अथ रोचनार्था फलश्रुतिः इति सिद्धान्तानुसारं ग्रन्थे शिष्यप्रवृत्तिप्रयोजकतया केनोपनिषच्चरममन्त्रेण फलमुखेन ब्रह्मप्राप्तिसहयोगिसद्गुणान्निदर्शयति—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ।।८।।

तस्यै, ब्रह्मविद्यायै तपः, चान्द्रायणादिकं दमः, इन्द्रियदमनं, कर्म, श्रुतिविहितं प्रतिष्ठा प्राप्तिः, वेदाः चत्वारः, सर्वाङ्गाणि सकलावयभूतानि, सत्यम् सत्याचरणम्, आयतनं निवासः । एभिर्गुणैः सम्पन्नः ब्रह्मविद्याधिकारीति सूचितम् ।।श्रीः।।

अथ फलं संकीर्त्य ग्रन्थं विश्रमयति—

यो वा एतामेव वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ।।९।।

फलं वर्णयन्ती प्राह श्रुतिः–एवं, एवं प्रकारवर्णितामेतां, केनोपनिषदं चतुःखण्डात्मिकां वेद, वेत्ति तदनुसारमाचरति। यः सः पाप्मानं, कायिकवाचिकमानसिकसकलपापराशिं भजनप्रतिबन्धकप्रत्यूहजनकमपहत्य, विनाश्य, अनन्ते अन्तशून्ये स्वर्गे स्वः स्वर्गलोके गीयते इति स्वर्गः साकेतलोकः, तस्मिन्। ननु स्वर्गपदेन सुरलोक एव कस्मान् न गृह्यते ? इति चेत्, श्रुणु—सुरलोकस्य क्षयशीलत्वात् **क्षीणे पुण्यं मर्त्यलोकं विशन्ति** इति स्मृतेः। अनन्त इति पदेन अत्र तस्मात् विलक्षणलोकस्य स्वीकारौचित्यम्। ज्येये श्रेष्ठे लोके स्थाने, प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठितः सन्निवशति। पुनर्द्रढीकरणाय प्राह प्रतितिष्ठति, प्रतिष्ठितः सन् ततो न कदापि पततीति भावः ॥श्रीः॥

इति श्रीचित्रकूटस्थश्रीतुलसीपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरूश्रीमारानन्दाचार्यश्रीरामभद्राचार्यकृतौ केनोपनिषदि श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्॥

॥श्री राघवः शन्तनोतु॥

●

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

केनोपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

श्री केनोपनिषद्

का पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-

कवितार्किकचूडामणि वाचस्पति-

श्री जगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामिरामभद्राचार्य-

प्रणीत श्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि

विशिष्टा-द्वैतसिद्धान्त-प्रतिपादक श्रीराघवकृपाभाष्य ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

केनोपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

।। मङ्गलाचरणम् ।।

सुरनरमुनिवरमृग्यं कौसल्या किमपि फलं फलति ।
तल्लालयति सुमित्रा प्रकाममास्वादयति सीता ।।१।।

श्रीभानुमद्दुहितृकल्पलताप्रसूति-
राकूतिधर्मगुणमञ्जुलपुष्पशाली ।
सीतालताविलसितो जनताभिरामो
रामाभिधो जयति जैत्रतरुस्तमालः ।।२।।

तं तमालसुभगं गम्भीरया बालकोचितगिरा सुधामुचा ।
रञ्जयन्तमनिशं नृपाङ्गणं राघवं मनसि शीलये शिशुम् ।।३।।

केनेदं धनुरानतं बलवता भग्नञ्च केनैष तु
केनेदं शकलीकृतं कृतिमता क्षिप्तञ्च केनावनौ ।
एवं रोषकरालनेत्रभृकुटिज्वालावलीढं नृपम्
पृच्छन्तं परिसान्त्वयन् भृगुवरं श्रीराघवस्त्रायताम् ।।४।।

यत्पादाम्बुरुहध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः ।
कृतकृत्योऽस्मि तं वन्दे रामानन्दं जगद्गुरुम् ।।५।।

नत्वा श्रीतुलसीदासं रामानन्दाश्रितान् सतः ।
केनोपनिषदो भाष्यं कुर्वे सीतापतेर्मुदे ।।६।।

सीताराम-पदारविन्द-मकरन्द हृदय भरि
रामानन्दाचार्य आद्यवैष्णव प्रणाम करि
चित्रकूट तुलसीपीठाधीश्वर नर भाषा
राघवकृपाभाष्य विरच्यो जन सुख अभिलाषा।
वादविशिष्टाद्वैत की मर्यादा सिद्धान्तमय
रामभद्र आचार्य मैं प्रगट करौं वेदान्त नय।।

अब मैं भगवान् श्रीसीतारामजी की कृपा तथा श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य के चरणों के आशीर्वाद, एवं अभिनव वाल्मीकि श्रीगोस्वामी तुलसीदास महाराज के प्रसाद तथा सद्गुरुदेव एवं समस्त सन्त वैष्णव विद्वान् मनीषियों के मंगलमय शुभसंवाद से सामवेदीय 'तलवकार' शाखा के अन्तर्गत आने वाली ब्रह्ममीमांसा-प्रधान केनोपनिषद् पर श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवाभिमत विशिष्टाद्वैतमर्यादा के अनुसार श्रीराघवकृपाभाष्य नामक व्याख्यान प्रस्तुत कर रहा हूँ।। श्री ।।

केनोपनिषद् समावेद की 'तलवकारीय' शाखा का नवम अध्याय ही है, इसके आठ अध्यायों में कर्म और उपासना का प्रतिपादन है। तलवकारीय शाखा का नवम अध्याय पूर्णतया ब्रह्मविचार का ही प्रतिपादन करता है, इसलिये इसे उपनिषद् कहते हैं। इस उपनिषद् का प्रथम मन्त्र 'केन' शब्द से प्रारम्भ होता है, इसीलिये इसे केनोपनिषद् नाम से जाना जाता है। सब से पहले यहाँ यह जानना आवश्यक है कि— उपनिषद् का प्रतिपाद्य ब्रह्म निर्विशेष और निर्धर्म नहीं है। वह निर्गुण निराकार होता हुआ सगुण साकार भी है। परन्तु निर्गुण या निराकार का गुणों से रहित और आकार से हीन अर्थ नहीं समझना चाहिये। निर्गुण का अर्थ है निर्लीनगुणक, अर्थात् जब परमात्मा अपने गुणों को छिपा लेते हैं तब उन्हें निर्गुण कहते हैं, और जब भक्तों की आवश्यकता के अनुसार अपने गुणों को प्रकट करते हैं, तब भगवान् सगुण बन जाते हैं। वास्तव में तो भगवान् एक ही समय सगुण और निर्गुण दोनों ही रहते हैं। जैसे पृथिवी एक ही समय किन्हीं बीजों को छिपा लेती है, और किन्हीं बीजों को प्रकट करती है, उसी प्रकार भगवान् भी प्रत्येक लीला में उस समय के लिये आवश्यक गुणों को प्रकट करते हैं और अनावश्यक गुणों को छिपा लेते हैं। प्रकट किये गुणों की अपेक्षा से उन्हें सगुण कहा जाता है, और उसी समय छिपाये हुये गुणों की दृष्टि से वे निर्गुण भी कहलाते हैं। ऐसे सगुण और निर्गुण चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का शास्त्रीय विचार करने के लिये हम प्रवृत्त हो रहे हैं। उपनिषद् की परंपरा के अनुसार यहाँ भी पहले शान्तिपाठ किया गया है।। श्री ।।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे परमात्मा! मेरे चरण-हस्त आदि सभी अङ्ग, वाणी-नेत्र-कान आदि सभी इन्द्रियाँ तथा मेरा आत्मबल, ये सब आपकी कृपासुधा से तथा आपके भजनरस से आप्यायित अर्थात् सराबोर हो जाय। सम्पूर्ण चराचर में विराजमान उपनिषदों से वेद्य चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कभी-भी मेरा त्याग न करे, मैं भी उस परमात्मा का कभी त्याग न करूँ, अर्थात् मैं कभी भगवान् के चरण न छोड़ूँ और भगवान् कभी मेरा हाथ न छोड़ें। महात्मा सूरदास जी भी कहते हैं—

बाँह छुड़ाये जात हौ निर्बल जानि के मोहे।
हृदय से जब जाहुगे वीर बदोंगो तोहे ।।

इस प्रकार उन परमप्रेमास्पद परमात्मा में प्रीतिपूर्वक आसक्त मुझ साधक में वे सभी धर्म प्रकट हो जायँ, जो मेरे लिये उपनिषद् में कहे गये हैं। क्योंकि औपनिषद धर्म भगवान् की कृपा के विना जीव में नहीं आते ।। श्री ।।

व्याख्या– इस मन्त्र में ''बल'' शब्द काम और राग से रहित आत्मबल के लिये प्रयुक्त है। यद्यपि ''सर्वाणि इन्द्रियाणि'' शब्द का प्रयोग होने से वाणी आदि उसी से गतार्थ हो जाती, फिर भी वाक्-चक्षुः-श्रोत्रं शब्दों का प्रयोग ब्राह्मणवसिष्ठन्याय से इनकी विशेषता सिद्ध करने के लिये किया गया है। ये तीनों ही भगवान् के भजन में बहुत साधक हैं, वाणी से भगवान् का गुण-कीर्तन, नेत्रों से भगवान् की रूपमाधुरी के दर्शन, तथा श्रवणों से भगवत्कथा का श्रवण, यही तीन भगवान् की प्राप्ति में साधन हैं और इनके लिये वाणी-नेत्र और कर्णेन्द्रिय का भगवत्कृपासुधा से पुष्ट होना बहुत आवश्यक है। जिससे वाणी आनन्द से भगवान् का गुण कीर्तन कर सके, नेत्र निर्दोष होकर भगवान् की रूपमाधुरी को पी सकें, और कान

सावधान होकर भगवत्कथासुधा का पान कर सकें। इसी प्रकार की प्रार्थना श्रीमद्भागवत में यमलार्जुन ने भगवान् श्रीबालकृष्ण से की है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्।।

—*(भागवत- १०-१०-३८)*

अर्थात्– प्रभो! हमारी वाणी आपके मंगलमय गुणों का वर्णन करती रहे, हमारे कान आप की रसमयी कथा में लगे रहें, हमारे हाथ आपकी सेवा में और मन आपके चरणकमलों की स्मृति में रम जायँ। यह सम्पूर्ण जगत् आप का निवास स्थान है। हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे। संत आपके प्रत्यक्ष शरीर हैं, हमारी आँखें उनके दर्शन करती रहें। श्रुति तीनों तापों की शान्ति के लिये भगवान् से प्रार्थना करती हैं।। श्री।।

।। अथ प्रथमखण्ड ।।

इस उपनिषद् का गुरु-शिष्यसम्वादपरम्परा से प्रारंभ हो रहा है। श्रद्धालु शिष्य जानने की इच्छा से आचार्यों के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं, और वे गुरुकृपारूप नौका से बहुत थोड़ा प्रयास करके शास्त्रमहासागर को पार कर लेते हैं। अत: भगवती श्रुति गुरुशिष्यसम्वाद की अवतारणा कर रही हैं—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः
श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब ''आचार्यवान् पुरुषो वेद'' अर्थात् आचार्य की कृपा से ही पुरुष भगवान् को पाता है, इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से ब्रह्मविज्ञान का इच्छुक अधिकारी शिष्य हाथ में समिधा लेकर ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करके हाथ जोड़कर विनीतभाव से उन से चार प्रश्न करता है— हे भगवन्! किस देवता से प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न विषयों में भेजा हुआ यह मन विषयों का भोग करने के लिये

कूद पड़ता है ? सभी इन्द्रियों से श्रेष्ठ प्राण किससे प्रेरणा पाकर पाँच रूपों में बटा प्रत्येक प्राणी के शरीर में सञ्चरण करता है ? हे आचार्य ! सभी लोग किससे प्रेरित अर्थात् किसके द्वारा अर्थवती बनायी हुयी वाणी को बोलते हैं ? और कौन देवता नेत्र-कान आदि इन्द्रियों को उनके अपने-अपने व्यापारों में नियुक्त करता है ? ।। श्री ।।

व्याख्या– मन-प्राण-वाणी-इन्द्रियाँ ये सब स्वयं चेतन नहीं है, इन सबको परमात्मा से ही चेतना मिली है। श्रीमानस में भगवान् शंकर भी कहते हैं—

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ।।

—(मानस १-११६-५,६)

अर्थात्– विषय, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के देवता और जीवात्मा, ये सब एक की सहायता से एक चेतन होते हैं। (अर्थात् विषयों का प्रकाश इन्द्रियों से, इन्द्रियों का इन्द्रियों के देवताओं से और इन्द्रिय-देवताओं का चेतन जीवात्मा से प्रकाश होता है)। इन सबका जो परम प्रकाशक है (अर्थात् जिससे इन सबका प्रकाश होता है), वही अनादि ब्रह्म अयोध्यानरेश श्रीरामचन्द्रजी हैं। इसीलिये शिष्य जिज्ञासा करता है कि इन सबका कोई न कोई प्रेरक अवश्य है, क्योंकि मन के पास न कोई अपना संकल्प है, और नहीं वेग, निश्चित ही इसका कोई न कोई प्रेरक और प्रेषक है। प्राण अत्यन्त सूक्ष्म है, वह किसी न किसी की शक्ति से ही शरीर में सञ्चरण करता है। वाणी कर्मेन्द्रिय होने के कारण जड़ है, उसे किसी न किसी नित्यज्ञानसम्पन्न ने शब्दों का निश्चित अर्थ प्रदान किया है। इसी प्रकार नेत्रों की देखने की शक्ति तथा कानों को सुनने का सामर्थ्य किसी दिव्य सामर्थ्यवान् के पास से प्राप्त है। ऐसे अचिन्त्यवैभवशाली तथा अघटितघटनायें घटानेवाले, मन-प्राण-कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के प्रेरक, परमात्मा के सम्बन्ध में हमें बताइये ।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार अपने शिष्य को शान्त, दमनशील, विनम्र एवं यज्ञोपवीत धारण करके ब्रह्मविद्या में पूर्ण अधिकार प्राप्त, जिज्ञासा करता हुआ, देख कर उसी विशिष्टाद्वैतवाद से वेद्य परब्रह्म की व्याख्या प्रस्तुत करते हुये आचार्य ने पहले मन-प्राण-कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय के चेतना के स्रोत रूप में परमात्मा का व्याख्यान प्रारम्भ किया—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाच ँ् स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मन्त्र में दो वाक्य हैं, प्रथम वाक्य से आचार्य ने शिष्य के चारों प्रश्नों का उत्तर दिया है, और द्वितीय वाक्य में शिष्य को भगवान् की प्राप्ति का फल बताया है। आचार्य कहते हैं— वत्स ! तुम्हारी चारों जिज्ञासायें बहुत उपर्युक्त हैं। कोई भी जड़ पदार्थ विना चेतना के कुछ भी नहीं कर सकता, जैसे यान विना चालक के नहीं चल सकता, उसी प्रकार स्वभाव से जड़ मन-प्राण-ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ किसी अपूर्वचेतनघन की अपेक्षा अवश्य करती हैं। और वह है जीवजगत् से विशिष्ट जगदीश्वर परमात्मा। आयुष्मान् ! वह श्रोत्र का भी श्रोत्र अर्थात् कानों को भी श्रवणशक्ति देनेवाला है। वही परमात्मा मन का भी मन अर्थात् मन को संकल्पशक्ति प्रदान करता है। वही वाणी की भी वाणी है अर्थात् अपनी दिव्य वाणी से वाणी को सभी अर्थों का दिव्य ज्ञान कराता है। वही परमात्मा प्राणों को भी गति देता है। ऐसे अघटितघटनापटीयान् परमेश्वर को हृदय में धारण करके, इस लोक से विदा लेकर अमृततत्व को प्राप्त कर लेता है। यहाँ "यत्" और "तत्" का नित्यसम्बन्ध है इस दृष्टि से सामान्यार्थ इस प्रकार का होगा ।। श्री ।।

जो कानों का कान, मन का भी मन, वाणी की वाणी तथा प्राण का भी निश्चित प्राण है, उसी परमात्मा को हृदय में धारण करके साधक अमृत हो जाते हैं, अर्थात् उन पर परमात्मा के कृपामृत की वृष्टि हो जाती है। इसलिये परब्रह्म प्रभु राम ही सम्पूर्ण चेष्टओं के अधिष्ठान हैं ।। श्री ।।

संगति– अब यहाँ जिज्ञासु जिज्ञासा करता है कि— भगवन् ! आपने जिस ब्रह्म को मन के सहित इन्द्रियों का कारण बताया, क्या उसे हम घट-पट आदि पदार्थों की भाँति नेत्रों से देख सकते हैं ? अथवा क्या उसे हम इन्द्रादि देवताओं की भाँति वाणी से स्तुति करके रिझा सकते हैं ? अथवा क्या उसे हम अपने मन से चिन्तन-विषय बना सकते हैं ? इन तीनों जिज्ञासाओं का उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः ।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उस परब्रह्म में न तो नेत्र जा सकता है,

न ही वहाँ वाणी पहुँच सकती है, और न ही मन उसे अपना विषय बना सकता है। हम तुम्हें कैसे उपदेश दें, यह नहीं समझ पा रहे हैं। क्योंकि हम भी उस परब्रह्म परमात्मा को पूर्णरूप से नहीं जानते हैं॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ आचार्य का यह अभिप्राय है कि— ब्रह्म निरपेक्ष चेतनामय होता हुआ व्यापक है, और जीव सापेक्ष चेतनामय होकर व्याप्य है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म अप्रमेय और अनन्त चेतनानिधि है, उसकी चेतना का कोई पार नहीं। विषय से लेकर जीव पर्यन्त सभी ने किसी न किसी से चेतना पायी परन्तु ब्रह्म की चेतना स्वयं सिद्ध है। जैसे विषयों को चेतना मिली है इन्द्रियों से, दशों इन्द्रियों एवं मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार को चेतना प्राप्त हुयी है इनके अधिष्ठानरूप देवताओं से एवं सूर्यादि देवताओं को चेतना प्राप्त हुयी है भगवान् से और भगवान् स्वयंसिद्ध चेतनामय हैं, वे परम प्रकाशमय हैं। जैसा कि भगवान् मानसकार भी कहते हैं—

विषय करन सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥

—(मानस– १-११६-५,६)

भागवतकार ने यहाँ बहुत ललित प्रस्तावना की है।

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥

—(भागवत– १०-१४-३३)

अर्थात्– ब्रह्मजी कहते हैं, हे अच्युत! इन व्रजवासियों के सौभाग्य की महिमा तो अलग रही, मन आदि ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेवता के रूप में रहने वाले महादेव आदि हम लोग बड़े ही भाग्यवान् हैं। क्योंकि इन व्रजवासियों की मन आदि ग्यारह इन्द्रियों को प्याले बना कर हम आपके चरणकमलों का अमृत से भी मीठा, मदिरा से भी मादक, मधुर, मकरन्दरस पान करते रहते हैं। जब उसका एक-एक इन्द्रिय से पान करके हम धन्य-धन्य हो रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियों से उसका सेवन करने वाले व्रजवासियों की तो बात ही क्या है॥ श्री॥

अत एव भगवान् को मन-वाणी से परे माना जाता है। यहाँ ''न चक्षुर्गच्छति'' कह कर प्रत्यक्ष का, ''न वाग् गच्छति'' कह कर उपमान का, और ''न मनो गच्छति'' कह कर अनुमान का निराकरण किया गया। अर्थात् भगवान् सामान्य नेत्रों के विषय नहीं बन सकते, यहाँ नेत्र शब्द पाँचों इन्द्रियों का उपलक्षण है। इस से न्यायसम्मत प्रत्यक्षवाद का निराकरण किया गया। 'न वाग् गच्छति'' कहकर पाँचों कर्मेन्द्रियों का भी श्रुति निराकरण करती है। क्योंकि ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ जड़ हैं। इसीलिये भगवान् को बार-बार ''ज्ञानगिरागोतीत'' ''मायामनगुणपार'' आदि कहा गया। चूँकि वाणी ही किसी से उपमा देती है, यदि वही नहीं हो तो फिर उपमान कैसा ? इससे भगवान् के विषय में स्वयं उपमानप्रमाण निरस्त हो जाता है। मानस के उत्तरकाण्ड में भुशुण्डी जी कहते हैं—

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहे।

—*(मानस*– ७-९२-९)

''न मनः'' यहाँ मन शब्द बुद्धि-अहंकार और चित्त का भी उपलक्षण है। अर्थात् भगवान् के पास चारों अन्तःकारण भी नहीं जा सकते। न तो मन उनका संकल्प कर सकता है, न ही बुद्धि उनके प्रति व्यवसाय कर सकती है, न ही अहंकार उनके प्रति अहंता रख सकता है, और न ही चित्त ईश्वर को पूर्णरूप से चिन्तन का विषय बना सकता है। इससे भगवान् के विषय में अनुमान की प्रामाणिकता का भी निराकरण किया गया। क्योंकि लिंगपरामर्श मन का विषय है, जब वहाँ मन ही नहीं जा रहा तो फिर परामर्श कौन करे। सत् अनुमान में हेतु व्यापक और साध्य व्याप्य होता है। जैसे ''पर्वतो वाह्निमान् धूमात्'' धूमं के कारण पर्वत अग्निवाला है, इस अनुमान में धूम व्यापक तथा अग्नि व्याप्य है। जिसे अनुमान के द्वारा सिद्ध किया जाता है उसे साध्य कहते हैं। साध्य व्याप्य होता है, हेतु के द्वारा ही हम साध्य को सिद्ध करते हैं। जो अधिक देश में रहता है उसे व्यापक और उसकी अपेक्षा अल्पदेश में रहता है उसे व्याप्य कहते हैं। व्याप्ति में हेतु व्यापक और साध्य व्याप्य होता है इसीलिये हेतु को यत्र शब्द से और साध्य को तत्र शब्द से कहा जाता है। जैसे— ''यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः'' जहाँ-जहाँ धूम होता, वहाँ-वहाँ अग्नि होती होती है। यहाँ धूम व्यापक और अग्नि व्याप्य है। किन्तु भगवान् को कभी व्याप्य

नहीं माना जा सकता, वे सर्वव्यापक हैं। अतः भगवान् को अनुमान भी नहीं सिद्ध कर पाता। इसीलिये मानसकार कहते हैं—

मन समेत जँह जाइ न वानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।।

—(मानस– १-३४२-७)

अतः यह कहा जाता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्योपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

अर्थात् जिस भगवान् को प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान से भी नहीं जाना जा सकता उन्हें भी वेद की कृपा से जान लिया जाता है, यही वेद की वेदता है। इससे सिद्ध हुआ कि— भगवान् को केवल शब्द प्रमाण से जाना जा सकता है। प्रत्यक्ष और अनुमान तो चित् और अचित् में प्रमाण बन सकते हैं। अब यहाँ प्रश्न उठता है— यदि भगवान् को ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा चारों अन्तःकरणों से परे ही श्रुति सिद्ध करना चाहती हैं तो फिर वेदानुमोदित रामायण महाभारत और पुराणों में भगवत् साक्षात्कार के हजारों उदाहरण अप्रामाणिक हो जायेंगे। यदि नेत्र भगवान् को नहीं देख सकता तो फिर दशरथ-कौसल्या, नन्द-यशोदा आदि महाभागवतों ने प्रभु को देखा कैसे ? यदि वाणी भगवान् में नहीं प्रवेश कर सकती तो फिर अहल्या-जटायु-ध्रुव-प्रह्लाद-अक्रूर आदि भगवद् भक्तों ने भगवान् की स्तुति की ही कैसे ? यदि मन भगवान् को संकल्पित नहीं कर सकता तो फिर नारद सनकादि ने परमेश्वर का ध्यान ही कैसे किया ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर है कि— श्रुति ने भगवान् में ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरणों के प्रवेश का निषेध किया है, परन्तु इन में भगवान् के प्रवेश का निषेध नहीं किया है। अर्थात् हम जैसे जीवों के नेत्र भगवान् में नहीं जा सकते, परन्तु भगवान् तो हमारे नेत्रों में आ ही सकते हैं। भले ही हमारी वाणी जड़ होने के कारण भगवान् में प्रवेश नहीं कर पाये, पर भगवान् यदि कृपा करके हमारी वाणी के विषय बनें तो क्या आपत्ति है ? भले ही हमारा चंचल मन परमेश्वर को अपना विषय न बना पाये पर भगवान् ही यदि हमारे मन कमल के भ्रमर बन जायं तो कोई शास्त्रीय बाधा नहीं हैं। बस यही हुआ भक्तों के साथ। अर्थात् ज्ञानी भगवान् के पास जाता है, पर भक्त भगवान् को अपने पास

बुलाता है। उस परब्रह्म को हम कैसे कहें? यह नहीं समझ पा रहे हैं, क्योंकि हमको भी उनका पूर्णरूप से ज्ञान नहीं है॥ श्री॥

संगति– इस प्रकार कहने पर शिष्य को यह सन्देह हो गया है कि— जब ब्रह्म को कोई न देख सकता है, न कह सकता है, न जान सकता है तब तो सम्पूर्ण उपनिषद् भाग का आरम्भ ही व्यर्थ हो जायेगा। इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, यदि कोई प्रयत्न करे तो भले ही पूर्णरूप से न जान सके पर अपनी क्षमता के अनुसार कुछ तो जान ही सकता है। घड़े में समुद्र का पूरा जल आ जाय ऐसा संभव नहीं है, पर जितना उसमें स्थान है उतना जल तो उसे प्राप्त ही होगा। उसी प्रकार जीव की जितनी क्षमता और जितनी आवश्यकता है उतना तो उसे ब्रह्म का ज्ञान होगा ही और उसी से उसका कल्याण भी होगा। कोई कितना भी प्यासा हो तो क्या वह गंगा का पूरा जल पी जायेगा? अतः छोटे से पात्र में न तो गंगा जी का पूरा जल आ सकता है, और न ही उसकी आवश्यकता है। अतः उपनिषद् भाग का आरम्भ व्यर्थ नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये आचार्य कहते हैं—

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आचार्य कहते हैं— तुम्हें डरना नहीं चाहिये भले ही हम ब्रह्म को पूर्णतया न जानते हों; फिर भी उनकी कृपा-प्रसाद से प्राप्त सामर्थ्य के द्वारा सर्वथा उपदेश के अनर्ह होने पर भी तुम्हें कृतार्थ करने के लिये तथा अपनी वाणी को पवित्र करने के लिये हम उस परब्रह्म का उपदेश करते हैं। श्रुतियों ने उस परब्रह्म परमेश्वर को "विदित" अर्थात् संसार से भी विलक्षण कहा है और "अविदितात्" यानें जीवात्मा से भी विलक्षण कहा है। इस प्रकार हमने उन धीर पुरुषों के मुख से सुना है, जिन्होंने चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म की व्याख्या की है॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ "विदित" शब्द नाशवान् संसार के लिये प्रयुक्त हुआ है, और "अविदित" शब्द अक्षर जीवात्मा के लिये। संसार नाशवान् है, इसलिये वह 'विदि' क्रिया का कर्म है, वह प्रत्यक्ष सिद्ध है, हम उसे अपने इन्द्रियों से अनुभव कर सकते हैं। अतः श्रुति उसे "विदित" कहती हैं। परमात्मा उससे विलक्षण हैं। जीवात्मा सूक्ष्म है उसको सामान्य लोग नहीं

जान सकते। भगवती गीता भी जीवात्मा के स्वरूप का इसी प्रकार निर्वचन करती हैं। ''श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'' (गीता- २-२९) कुछ लोग इसे सुन कर भी नहीं जान सकते। इसलिये श्रुति ने जीवात्मा को ''अविदित'' कहा है। भगवान् जीवात्मा से भी विलक्षण हैं। जीवात्मा बहुत हैं, परमात्मा एक हैं। जीवात्मा विना शरीर के नहीं रह सकता, परमात्मा तो मित्रता निभाने के लिये अपने अन्तर्यामी रूप से जीवात्मा के साथ पांचभौतिक शरीर में रह लेते हैं। इस प्रकार क्षर और अक्षर ''विदित'' और ''अविदित'' ''अनात्मा'' तथा जीवात्मा से अतिरिक्त तत्व ही परब्रह्म परमात्मा है। भगवान् श्रीकृष्ण भी इसी तथ्य को पुरुषोत्तम योग में स्पष्ट कहते हैं। यहाँ कुछ लोग ''विदित'' शब्द का हेय और ''अविदित'' शब्द का उपादेय अर्थ करते हैं, जो सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि उनकी व्याख्या में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि हजारों श्रुतियों ने जीवात्मा और परमात्मा का अभेद सिद्ध किया है ? तो यह कहना असंगत है। क्योंकि श्रुतियों ने आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों को ग्रहण किया है। यदि कहें जीवात्मा और परमात्मा के भेद में क्या प्रमाण है ? इस पर हम यही कहेंगे कि यहाँ कठोपनिषद् ही प्रमाण है। कठोपनिषद् प्रथम अध्याय के तृतीय वल्ली में स्पष्ट कहा है— इन्द्रियों से विषय, विषयों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से आत्मा, आत्मा से अव्यक्त योगमाया, और योगमाया से परमपुरुष परमात्मा सूक्ष्म और श्रेष्ठ हैं। यहाँ परत्व की तालिका में जीवात्मा का पाँचवाँ और परमात्मा का सातवाँ स्थान है। यदि कहें यहाँ आत्मा शब्द अहंकार का वाचक है, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अहंकार का बुद्धि से श्रेष्ठ होना लोक में भी सिद्ध नहीं होता। कोई भी अहंकारी को बुद्धिमान् नहीं मानता और दूसरी बात यह है कि आत्मा शब्द का अहंकार अर्थ मान लेने पर गीता जी का विरोध भी होगा। गीता के तृतीय अध्याय के अन्तिम भाग में अर्जुन को काम-विजय का प्रोत्साहन देते हुये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जीवात्मा को ही बुद्धि से श्रेष्ठ कहते हैं। ''यो बुद्धेः परतस्तु सः'' आद्य शंकराचार्य ने भी ''सः'' शब्द की जीवात्मा परक ही व्याख्या की है। यदि कहें जीवात्मा और परमात्मा का भेद कब से है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कहेंगे कि अनादि काल से। मुण्डकोपनिषद् में श्रुति स्वयं कहती हैं कि ''समानं वृक्षं परिषष्वजाते'' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा रूप दोनों पक्षी न जाने कब से शरीर रूप वृक्ष को चिपक कर बैठे हैं।

''परिषष्वजाते'' शब्द में ''परोक्षे लिट्'' सूत्र से परोक्षभूतकाल में लिट् लकार हुआ है। श्रुति का आशय यह है कि— परमात्मा की पत्नी होकर भी वह यह नहीं जान सकीं कि कब से परमात्मा जीवात्मा के साथ चिपक कर बैठे हैं। यदि कहें कि आपके भी मत में अद्वैत है, तो हाँ हमारे मत में भी अद्वैत है, किन्तु आपकी अपेक्षा ''विशिष्ट''। आपके जैसा हम रामानन्द्रीय श्रीवैष्णवों का अद्वैत नहीं है। आप अद्वैतशब्द को भाववाचक मानते हैं; और वहाँ नञ्तत्पुरुषसमास करते हैं। और हम श्रीमद् आद्यरामानन्दाचार्यचरणकमलभ्रमर श्रीवैष्णव अद्वैतशब्द को व्यक्तिवाचक संज्ञा मानकर भगवान् श्रीराम का नाम ही मान लेते हैं। क्योंकि हम मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के उपासक कभी-भी श्रुति मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। श्रुति ने अद्वैत शब्द को ब्रह्म का ही वाचक माना है ''शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते'' (मु०उ०- ६)। अर्थात् ब्रह्मवेत्ता लोग तुरीय चैतन्य को ही शिव और अद्वैत ब्रह्म मानते हैं। स्मृतियों में भी भगवान् को अद्वैत कहा गया है, ''अद्वैतं तमसः परम्'' (रामस्तवराज- ४८) ''अज अद्वैत अगुण हृदयेशा'' (मानस- ७-१११-४)॥ श्री॥

यहाँ अद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति भी ध्यान से देखिये ''द्वयोः भाव द्विता द्विता एव द्वैतं न विद्यते द्वैतं यस्मिन् तत् अद्वैतम्'' अर्थात् भगवान् प्रत्येक प्राणी को अपना पुत्र ही मानते हैं। इसलिये उनके मन में पुत्रत्व के अतिरिक्त कोई दूसरी धारणा नहीं रहती। अथवा ''द्वाभ्याम् इतः द्वितः संसारः तदेव द्वैतं न विद्यते द्वैतं यस्मिन् तदद्वैतम्'' अर्थात् माता-पिता से जन्म लेने के कारण इस संसार को द्वैत कहते हैं। भगवान् में वह नहीं है इसीलिये भगवान् को अद्वैत कहते हैं। और वे चित् और अचित् से विशिष्ट हैं, इसीलिये उन्हें विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। किसी भी भद्र व्यक्ति को यदि विशेषण नहीं दिया जाय तो उसका घोर अपमान माना जाता है। और हमारा ब्रह्म तो रामभद्र है, अतः वह विशिष्ट है। आप अपने निर्विशेष ब्रह्म को चाहे जो कुछ मानें। इस प्रकार भगवान् क्षर और अक्षर अर्थात् ''विदित'' और ''अविदित'' से विलक्षण होने के कारण ही लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हैं और वही है केनोपनिषद् के प्रतिपाद्य ब्रह्म। यदि आप कहें कि— जीवात्मा और परमात्मा का भेद औपाधिक है, तो आपका यह कथन श्रुति और स्मृति दोनों से विरुद्ध होने के कारण अत्यन्त अनुचित है। श्रुति कहती है ''नित्यो नित्यानाम्''

अर्थात् नित्य जीवों के भगवान् नित्यसंबन्धी हैं। और गीता जी में जीवात्मा और परमात्मा दोनों को सनातन कहा गया है। यथा— जीवात्मा "अचलोऽयं सनातनः" (गीता– २-२५)। परमात्मा "सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे" (गीता– ११-१८) इतने पर भी यदि आप जीवात्मा और परमात्मा के अभेदवाद पर अड़े ही रहें तो वह दुराग्रह आपको ही शोभा देगा। हम तो श्रुति और भगवान् के अनुग्रहवादी हैं।। श्री ।।

संगति– प्रथम मन्त्र में शिष्य ने आचार्य से मन-प्राण-वाणी-नेत्र और श्रवण के प्रेरक परमात्मा की जिज्ञासा की। द्वितीय मन्त्र में आचार्य ने सामान्यतः ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करके, पुनः तृतीय मन्त्र में ब्रह्म को इन्द्रियों और अन्तःकरणों का अविषय तथा प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान से परे सिद्ध करके पुनः चतुर्थ मन्त्र में ब्रह्म को क्षर और अक्षर (प्रकृति और जीवात्मा) दोनों से विलक्षण सिद्ध किया। अब पांचवें मन्त्र में अन्तिम मन्त्र तक निषेध की पद्धति से ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और उसी की कृपा से दशों इन्द्रियों एवं चारों अन्तःकरणों की सक्रियता का वर्णन करते हैं। उसमें प्रथम मन्त्र ब्रह्म को वाणी का अविषय कह रहा है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आचार्य कहते हैं— हे वत्स! जो वाणी के द्वारा नहीं कहा गया, प्रत्युत् वाणी जिसके द्वारा स्वयं कही जाती है, तुम उसी को परब्रह्म जानो। जिस दृश्यमान क्षर या अक्षर को लोग आराध्यतया उपासना का विषय बनाते हैं, वह यह ब्रह्म नहीं है।। श्री ।।

व्याख्या– वाणी जड़ है, इसीलिये वह चेतनघन परमात्मा को नहीं कह सकती, बल्कि उस परमात्मा द्वारा ज्ञानचेतना समर्पित करके वह स्वयं कहला दी जाती है। "अभ्युद्यते" शब्द कर्मकर्तृकप्रयोग है, जहाँ कार्य की सुगमता का वर्णन करने के लिये कर्ता का व्यापार नहीं कहा जाता, वहाँ कर्मकर्तृप्रयोग होता है। जैसे चावल स्वयं पक जाता है "ओदनः पच्यते" उसी प्रकार भगवान् की चेतना से वाणी स्वयं बोल पड़ती है, वही ब्रह्म है। "इदम्" अर्थात् यह संसार का क्षर और अक्षर जीवात्मा ये दोनों ब्रह्म नहीं हैं, ब्रह्म इनसे अलग हैं।। श्री ।।

संगति– अब शिष्य ने पूछा कि— जड़ वाणी भले ही भगवान् का निर्वचन नहीं कर सके, पर मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त द्वारा तो भगवान् का संकल्प, व्यवसाय, अभिमनन तथा चिन्तन किया ही जा सकता है। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे वत्स! जिसे साधक मन से नहीं जान पाता, तथा जिसके द्वारा श्रुतियाँ मन को ही मनन सामर्थ्य से युक्त कहती हैं, उसी मन के नियन्ता को तुम परब्रह्म जानो। जिसकी लोग उपासना करते हैं वह जीव जगत् यह ब्रह्म नहीं है।। श्री।।

व्याख्या– मन भी जड़ प्राय है, अत: उससे साधक भगवान् को मनन का विषय नहीं बना पाता, भगवान् के कारण ही मन में संकल्प की शक्ति आती है।। श्री।।

संगति– अब शिष्य ने पूछा कि— क्या उस परब्रह्म को हम अपनी आँखों से देख सकते हैं? इस पर आचार्य कहते हैं—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आचार्य कहते हैं— हे सौम्य! जिस ब्रह्म को साधक सामान्य नेत्र से नहीं देख पाता, जिस की कृपा से ही नेत्र रूपवान् पदार्थों को देख लेता है,उसी नेत्र के अधिष्ठाता देव को तुम ब्रह्म समझो। जिनकी लोग उपासना करते हैं, वे चित् और अचित् ब्रह्म नहीं हैं।। श्री।।

व्याख्या– आँखों में सामान्य ज्योति होती है, उससे अनन्त ज्योतिष्मान् परमात्मा को नहीं देखा जा सकता। इसीलिये गीता में श्री अर्जुन से श्री भगवान् कहते हैं— हे अर्जुन! तुम इस सामान्य नेत्र से मुझे नहीं देख सकते, इसीलिये मैं तुम्हें दिव्य नेत्र दे रहा हूँ। अब मेरे ऐश्वर्य सम्पन्न रूप संयोग को देखो। ''इदम्-इदं'' ये दोनों चित् और अचित् के संकेतक हैं। अर्थात् ''इदं'' यह चित् तत्व भी ब्रह्म नहीं है, और ''इदं' यानी अचित्

तत्त्व भी ब्रह्म नहीं है। ये दोनों ही ब्रह्म के विशेषण हैं। ब्रह्म तो चित्-अचित् से परे और इन्हीं दोनों से विशिष्ट हैं॥ श्री॥

संगति– पुनः शिष्य ने पूछा— भगवन्! भले ही ब्रह्म हमारी आँखों का विषय न बने पर क्या हम उसे गुरुमुख से श्रवण भी नहीं कर सकते? इस पर आचार्य कहते हैं— हाँ, तुम उसे अपने पुरुषार्थ के बल पर सुन भी नहीं सकते, क्योंकि वह श्रवणेन्द्रिय का भी अगोचर है॥ श्री॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिद ँ् श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे वत्स! जिसको सामान्य जीव भगवत् कृपारहित कान से नहीं सुन सकता, जिसके द्वारा ही श्रवण को श्रुत अर्थात् श्रवणशक्तिसम्पन्न कहा जाता है, उसी को तुम परब्रह्म जानो। लोग जिसे भजते हैं, ऐसा अनात्मा और जीवात्मा ब्रह्म नहीं है॥ श्री॥

व्याख्या– भगवान् को सामान्य कानों से नहीं सुना जा सकता, इसीलिये महाराज पृथु ने भगवान् से दस हजार कान माँगे यथा—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥

—*(भागवत– ४-२०-२४)*

अर्थात् पृथु कहते हैं— मुझे तो उस मोक्ष पद की भी इच्छा नहीं है, जिसमें महापुरुषों के हृदय से उनके मुख द्वारा निकला हुआ आपके चरण कमलों का मकरन्द नहीं है, जहाँ आपकी कीर्ति-कथा सुनने का सुख नहीं मिलता। इसलिये मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दे दीजिये जिनसे मैं आपके लीला गुणों को सुनता ही रहूँ। इसीलिये श्रवण को भगवान् से ही शक्ति मिलती है॥ श्री॥

संगति– अब शिष्य ने फिर प्रश्न किया कि— भले ही ब्रह्म कानों से नहीं सुना जा सके, पर क्या उसे सूँघा भी नहीं जा सकता? इस पर आचार्य कहते हैं—

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे वत्स! जिस ब्रह्म को सामान्य नासिका से जीव नहीं सूँघ सकता, जिसके द्वारा नासिका को सूँघने की शक्ति मिलती है,तुम उसीको ब्रह्म समझो। जिसको संसारीजन भजते हैं, वह संसार और जीवात्मा ये दोनों ही ब्रह्म नहीं हैं।। श्री ।।

व्याख्या– ईश्वर प्राण के द्वारा नहीं जीवित रहता, बल्कि उसकी कृपा से प्राण प्रत्यक् नाड़ी में प्रेषित किया जाता है। अतः मन-वाणी-नेत्र-कर्ण और प्राण के नियन्ता भगवान् राम ही ब्रह्म हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में परमभागवत· ध्रुव भी कहते हैं—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्।।

—*भागवत* ४-९-६

ध्रुवजी कहते हैं— हे प्रभो! आप सर्वशक्ति सम्पन्न हैं, आप ही मेरे अन्तःकरण में प्रवेश कर अपने तेज से मेरी इस सोयी हुई वाणी को सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान और त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियों एवं प्राणों को भी चेतना देते हैं। मैं आप अन्तर्यामी भगवान् को प्राणाम करता हूँ।। श्री ।।

।। इति केनोपनिषद् प्रथमखण्ड पर
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। अथ द्वितीयखण्ड ।।

संगति– प्रथमखण्ड के आठ मन्त्रों से आचार्य ने जब ब्रह्म निर्वचन किया तब शिष्य को ऐसा लगने लगा कि उसने परमात्मतत्व भली-भाँति जान लिया, शिष्य की जिज्ञासा शान्त हो गयी, और उसने गुरुदेव के चरणकमल पकड़ लिये। तब आचार्य मुस्कुराते हुये बोले— सौम्य! इतने में ही तुम्हारी जिज्ञासा शान्त हो गयी और तुमने अपने को कृतकृत्य-सा मान लिया, जबकि मैंने तुम्हें ब्रह्म का पूर्ण परिचय नहीं दिया। श्रुतियाँ भी ब्रह्म को पूर्णरूप से नहीं जान पातीं, उस विशिष्टाद्वैत रूप श्रीराम ब्रह्म को, मैंने जितना जाना उतना कहा। पर जिज्ञासा शान्त करके तुमने अपने जीवत्व को लाञ्छित किया है। जीव और जन्तु में यही अन्तर होता है कि जीव सतत जिज्ञासा करता रहता है, श्रीमद्भागवत में श्रीसूत जी कहते हैं— ''जीवस्य तत्वजिज्ञासा नार्थो यस्येह कर्मभिः'' परमात्मतत्त्व की जिज्ञासा करना ही जीव का प्रयोजन है, उसका यहाँ कर्मों से कोई प्रयोजन नहीं है।। श्री।।

जो भगवान् श्रीजानकीजीवन श्रीरामभद्र के लिये जीता है वही जीव है,''जीवति जानकीजीवनाय स जीवः'' यहाँ जीव धातु से सम्प्रदान अर्थ में अच् प्रत्यय हुआ है। जन्तु का लक्षण है ''ब्रह्मजिज्ञासा शून्यत्वे सति गृहीतजन्मत्वे सत्यज्ञानतिरोहितचेतनत्वं जन्तुत्वम्'' जो ब्रह्म जिज्ञासा से शून्य होकर केवल संसार के जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है, और अज्ञान से जिसकी चेतना तिरोहित है वही जन्तु है। और जीव का स्वरूप है कि जो जन्म लेकर तत्वजिज्ञासा करता रहता है, और जिसकी चेतना अज्ञान से कभी-कभी दब जाती है, यही जीव का लक्षण है। इसीलिये तुम्हें इतने से ही सन्तोष नहीं मान लेना चाहिये, अभी बहुत कुछ जानना शेष है। यह कह कर आचार्य फिर ब्रह्ममीमांसा प्रारम्भ करते हैं—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमाँ्स्यमेव ते मन्ये विदितम्।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आचार्य कहते हैं— हे वत्स! यदि तुम ऐसा मान रहे हो कि— मैं ब्रह्म को पूर्णरूप से जानता हूँ, और इसीलिये

तुम्हें अभिमान हो गया हो तो, निश्चय है कि तुम ब्रह्म के स्वरूप का बहुत थोड़ा-सा अंश जानते हो। क्योंकि अकार शब्द से वाच्य वासुदेवरूप परब्रह्म भगवान् श्रीराम का जो स्वरूप तुम में है, और जो देवताओं में वह भी ''दभ्र'' अर्थात् बहुत सीमित है। इसीलिये निश्चित ही अभी तुम्हारे ब्रह्मज्ञान की मीमांसा करनी होगी॥ श्री॥

व्याख्या– आचार्य का यह मानना है कि— जो व्यक्ति 'मैं जानता हूँ' ऐसा मान लेता है, वह ब्रह्म को ठीक-ठीक नहीं जानता। क्योंकि ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् परमानन्द में डूबकर ज्ञाता अपने ज्ञानीभाव को भूल जाता है, उसकी परिस्थिति गूँगे की स्वाद जैसी हो जाती है। यहाँ ''नूनं'' शब्द निश्चय का वाचक है। ''दभ्र'' शब्द का अर्थ है थोड़ा सीमित अर्थात् अत्यन्त अल्प, अर्थात् ब्रह्म असीम है, और जीव अणु होने के कारण ससीम है। इसीलिये तुम्हारा ज्ञान सीमित होने के कारण दभ्र है। यहाँ अकार शब्द वासुदेव रूप भगवान् श्रीराम का भी वाचक है। और ''त्वं'' शब्द सप्तम्यन्त ''त्वयि'' के अर्थ में है। यदि कहें यहाँ सप्तम्यन्त के अर्थ में ''त्वं'' का प्रयोग कैसे? इसका उत्तर है कि यहाँ ''सुपां सुलुक्'' (पा०अ०– ७-१-३९) सूत्र से सप्तमी ङी विभक्ति को सु आदेश हुआ, और ''त्वाहौ सौ'' (७-२-९४) सूत्र से युस्मत् को त्व और ''ङे प्रथमयोरम्'' सूत्र से अम् आदेश पूर्वरूप करके त्वं शब्द सिद्ध हुआ। यदि कहें कि— त्वं शब्द को प्रथमा के अर्थ में मानने में क्या आपत्ति है? तो इसका उत्तर यह है कि— जीव और ब्रह्म का अभेद शास्त्रसम्मत नहीं है। क्योंकि ''द्वा सुपर्णा'' (मु० ३-१-१) ''वेदाहमेतम्'' (शु०प० ३१-१८) इत्यादि सहस्रों श्रुतियाँ जीव-ब्रह्म का स्वरूपत: भेद कहती आयी हैं। यदि जीव ब्रह्म ही होता तो तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रथम वल्ली के प्रथम मन्त्र में ''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'' अर्थात् ब्रह्मज्ञानी जीवविज्ञान सम्पन्न ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं का भोग करता है। इस प्रकार जीव-ब्रह्म का स्पष्ट भेद क्यों कहा जाता। जैसे ''पुत्र: पित्रा सह भुङ्क्ते'' पुत्र पिता के साथ भोजन करता है, वाक्य में पिता और पुत्र का भेद स्वरूपत: सिद्ध है, उसी प्रकार उदाहृतमन्त्र में जीव के लिये 'स:' प्रथमान्तप्रयोग है, और ब्रह्म के लिये 'ब्रह्मणा' इस प्रकार सहार्थ के योग में तृतीयान्त प्रयोग है। यदि कहें कि अंशांशिभाव

मानकर यहाँ जीव के लिये "त्वं" पद उचित ही है, तो यह कहना ठीक नहीं। पहले तो जीव को ब्रह्म का अंश मानने पर ब्रह्म की अखण्डता ही नष्ट हो जायेगी। यदि अंश शब्द को पुत्रार्थ मानकर कथंचिद् सदृश अर्थ में लक्षणा कर ली जाय तो भी जीव-ब्रह्म का समानाधिकरण नहीं बन सकता। क्योंकि गीताजी में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं षष्ठी प्रथमा का व्यवहार करके व्यधिकरण ही स्वीकारा है। किं बहुना "देवेषु" इस अग्रिम सप्तम्यन्त शब्द के अनुरोध से भी "त्वं" शब्द को "त्वयि" के अर्थ में ही मानना पड़ेगा। आचार्य का आशय है— तुममें और इन्द्रादि देवताओं में जो भगवान् का अन्तर्यामी रूप दिख रहा है, वो भी "दभ्र" अर्थात् सीमित है। क्योंकि वह तो तुम्हारे हृदयप्रदेश की सीमा के अनुसार प्रस्तुत हुआ है। नहीं तो जिसके एक-एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड विराजते हों, वह जीव के छोटे से हृदय प्रदेश में कैसे आ सकता है। अत: इससे अधिक भी ब्रह्म का रूप है, अभी उसकी मीमांसा करनी होगी ।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार जब आचार्य ने यह सिद्ध कर दिया कि— कोई भी ब्रह्म को पूर्ण रूप से न जान सकता है, और न ही कह सकता है। तब शिष्य का ब्रह्मज्ञ होने का अभिमान नष्ट हो गया, और वह लज्जा से अपना शिर झुकाता हुआ हाथ जोड़कर आचार्य से बोला—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– शिष्य ने कहा हे— आचार्य ! मैं यह नहीं कहता कि मैं ब्रह्म को भली-भाँति जानता हूँ, और मैं यह भी नहीं कहता कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता। और यह भी नहीं कहता कि जानता हूँ। वास्तव में हममें से जो ब्रह्मतत्व को जानता है वही जानता है, पर वह क्या जानता है, यह भी मैं नहीं जानता ।। श्री ।।

व्याख्या– क्योंकि ब्रह्म पूर्णरूप से ज्ञान का विषय नहीं बन पाता, इसलिये शिष्य ने कहा कि— मैं यह नहीं कह सकता कि मैं परमात्मा को ठीक-ठीक जानता हूँ। और यह भी नहीं कह सकता कि नहीं जानता, क्योंकि मैंने गुरुमुख से ब्रह्म के सम्बन्ध में सुना है। शिष्य कहता है कि—

मैं यह भी नहीं कहता कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, क्योंकि मैं पूर्णरूप से तो जानता नहीं। गुरु ने पूछा— तो फिर जानता कौन है ? इस पर शिष्य ने कहा— जो हमें जानता है वही ब्रह्म को जानता है। क्योंकि जानने वाला किसी को बताता ही नहीं। इस प्रकार ब्रह्म पूर्णतया वाणी का विषय न होकर अपरोक्ष अनुभूति का विषय है।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार शिष्य के वचन सुनकर उसके हृदय को अभिमान शून्य जानकर उसे उत्साहित करते हुये आचार्य बोले—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आचार्य ने कहा— बालक ! तुमने ठीक उत्तर दिया, क्योंकि जिसने यह मान लिया कि— 'मैंने ब्रह्म को नहीं जाना' वास्तव में उसी ने ब्रह्म को जाना है। और जिसने यह मान लिया कि— 'मैं ब्रह्म को जान गया' वास्तव में उसने ब्रह्म को जाना ही नहीं। ब्रह्म तो विशिष्ट ज्ञान का अभिमान करने वालों के लिए पूर्णतः अविज्ञात ही रहता है। अर्थात् ज्ञानाभिमानी ब्रह्म को कभी-भी नहीं जान सकते। तथा ज्ञानमान से शून्य निरभिमानी भजनरसिक महानुभावों के लिए ब्रह्म पूर्णरूप से ज्ञात हो जाता है, उसके ज्ञान का विषय बन जाता है।। श्री ।।

व्याख्या– इस मंत्र में चारों षष्ठ्यन्त प्रयोगों में 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा०अ०– २-३-६५) सूत्र से कर्त्ता के अर्थ में षष्ठी है। अर्थात् जिस कर्त्ता को ब्रह्म विज्ञान का अभिमान है उसके द्वारा ब्रह्म जाना नहीं जाता। क्योंकि अभिमान स्वयं ज्ञान का बाधक है। इसलिए ज्ञानलक्षण के प्रकरण में भगवान् श्रीकृष्ण ने अमानित्व को ज्ञान का प्रथम लक्षण कहा है और मानसकार भी यही कहते हैं।

ज्ञानमान जहँ एकउँ नाही। दीख ब्रह्म समान सबमानी।।

—(मानस- ३-१५-७)

भागवत (१०-२-३२) में देवता भी यही कहते हैं कि— जो लोग ज्ञानाभिमान के वशीभूत होकर परमेश्वर के प्रति प्रेम नहीं करते उनका पतन होता ही है। जो ब्रह्म को जान जाते हैं उनकी भगवान् से

सम्बन्धनिबन्धना एकता हो जाती है। उनकी दृष्टि में जगत् परमात्मा का स्वरूप हो जाता हैं॥ श्री॥

विश्व रूप व्यापक रघुराई॥ "जगत् सर्वं शरीरं ते"

भागवत (११-२-४१) में राजर्षि निमि से नौ योगेश्वरों में सर्वप्रथम योगेश्वर कवि ने भी यही कहा कि— अनन्य श्रीवैष्णवभक्त आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, समस्त जीव, दिशायें, वृक्ष, नदी, समुद्र आदि समस्त जड़-चेतन पदार्थों को भगवान् का शरीर मानकर प्रणाम करें। मानस किष्किन्धाकाण्ड में हनुमान जी से भगवान् श्रीरामजी कहते हैं—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥

—(मानस- ४-३)

यदि कहें कि संसार की भगवत्स्वरूपता में क्या प्रणाम है? तो श्रुति, स्मृति, पुराणादि सहस्त्रों प्रमाण इस पक्ष का पोषण करते हैं। श्रुति स्वयं कहती हैं कि— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह समस्त जड़ चेतनात्मक संसार ब्रह्म का शरीर है। व्यवहार में शरीरी के प्रति भी शरीर का प्रयोग होता है। जैसे किसी ने किसी के मुख पर चाटा लगाया तो वह कहता है कि— 'मुझे मत मारो'। ठीक उसी प्रकार ब्रह्म शब्द के साथ इदं शब्द का प्रयोग शरीरशरीरिभाव का पोषक ही है॥ श्री॥

संगती– सद्गुरु के उपदेश से शिष्य का ज्ञानाभिमान समाप्त हो चुका है। अतः शिष्य को प्रोत्साहित करने के लिए आचार्य ने कहा—

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रतिबोध अर्थात् ब्रह्मज्ञान के विश्वास एवं ब्रह्मज्ञान की प्रतिष्ठा से सम्पन्न आचार्य से प्राप्त सिद्धान्त का अनुपालन करने वाला, अमृतत्व अर्थात् मरणधर्मरहित परमात्मा को अथवा जन्म-मरण से वर्जित विशुद्ध आत्मभाव को प्राप्त कर लेता है और यह जान लेता है कि— वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्म तत्वों से विलक्षण भगवान् का नित्यसेवक आत्मतत्व ही है। इस प्रकार परमात्मा की कृपा से

वह वीर्य अर्थात् भगवत्प्रेम, पराक्रम और परमात्मकृपारूप बल को प्राप्त कर लेता है तथा ब्रह्मविद्या द्वारा वह अपने आराध्य अमृत अर्थात् मरणधार्मा जीव से विलक्षण परमेश्वर को पा जाता है।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ आत्मतत्व परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त है और वीर्य शब्द भगवत्प्रेम का वाचक है। आशय यही है कि— परमेश्वर की कृपा से ही उनका प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम को वीर्य संज्ञा देने के में श्रुति का यही अभिप्राय है कि भगवत्प्रेम का पराक्रम इतना अद्भुत होता है कि जिससे साधक बड़े-बड़े धर्मज्ञानियों के दांत खट्टे करने वाले काम-क्रोधादि, दुर्जेय शत्रुओं को भी सरलता से जीत लेता है। प्रतिबोध शब्द का तात्पर्य है— प्रतीत बोध और प्रतिष्ठित बोध में अर्थात् जब तक ज्ञान के प्रति विश्वास न हो और जब तक वह प्रतिष्ठित अर्थात् मन में ठीक-ठीक न बैठ गया हो तब तक उससे ज्ञात वस्तु सिद्धान्त नहीं हो सकती। अथवा ''प्रतिष्ठो बोधो यस्मिन्'' अर्थात् जिसमें ब्रह्मज्ञान प्रतिष्ठित हो ऐसे प्रतिबोध रूप वेद के शिरो भाग उपनिषद् से जाने हुए सिद्धान्त का पालन करके साधक अमृततत्व को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि— ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में श्रुति स्वतः प्रमाण है। वैदिक मंत्रों में ही ऐसी शक्ति है कि— जो श्रद्धापूर्वक श्रवणमात्र से ब्रह्मज्ञान करा देती है। वेद तथा उनसे अनुमोदित पुराण, स्मृति, महाभारत, रामायण, मानस आदि आर्षपरम्परा के सद्ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य कपोलकल्पित निर्गुनिया शब्दों से न तो ब्रह्म ज्ञान होता है और न ही जीव का कल्याण, इसीलिए आचार्यों का मानना है कि— श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य की सेवा करके उनके श्रीमुख से सुने हुए श्रौतवाक्यों के आधार पर ही ब्रह्मविचार करना चाहिए। श्रीमदाद्य रामानन्दाचार्य जी के प्रसिद्ध प्रशिष्य बाल्मीकिअवतार श्रीतुलसीदास जी महाराज दोहावली में कहते हैं—

सबदी साखी दोहरा कहि किहिनी उपखान।
भगति निरुपहि भगति कलि निन्दहि वेद पुरान।।

इसीलिए सामान्य तथाकथित, अनार्ष वेदान्त वाक्यों से वेदान्त के नाम से जो कदाचार और पुरुषार्थ शून्यता का प्रचार किया जा रहा है, उससे बच कर श्रुतिवाक्यों के आधार पर ही ब्रह्मविचार करना चाहिए।

'अमृतत्वं विन्दते' इससे साधक को अमरपद मिल जाता है। यदि कहें कि यह तो श्रीरामानन्दीयवैष्णवसिद्धान्त से विरुद्ध व्याख्यान है क्योंकि सगुणोपासक मोक्ष नहीं चाहता? इस शंका का समाधान यह है कि— यहाँ अमृतत्व का आत्मबोध अथवा भगवान् श्रीराम के चरणकमल की प्राप्तिमात्र अर्थ है। प्रभु के चरण तो सभी को इष्ट हैं। भगवत्प्राप्ति का फल क्या है? इस पर श्रुति कहती है 'आत्मना', यहाँ आत्मशब्द, परमात्मा का वाचक है। परमात्मा साधक के हृदय में पधारते ही अपनी कृपासुधा की दृष्टि करके साधक को तीर्थ अर्थात् वह भजनबल प्रदान करते हैं, जिस बल से भक्त बड़े गहन संकटों को पार कर लेता है। प्रह्लाद, ध्रुव, द्रौपदी, मीरा, श्रीतुलसीदास आदि इसके प्रमाण हैं। ऐसे कृपालु परमात्मा प्राप्त कैसे होते हैं? इसे श्रुति कहती है 'विद्यया'। यहाँ विद्याशब्द परविद्या अर्थात् वेदांतविद्या का बोधक है। वेदान्तविद्या से भगवान् प्राप्त किये जा सकते हैं। श्रीरामरक्षास्तोत्र तथा श्रीरामचरितमानस में भी यही कहा गया है। ''विदान्तवेद्यो यज्ञेशः'' (रामरक्षा- २३) ''वेदान्तवेद्यं विभुम्'' (मानस-५ मं०च०-१) ॥ श्री ॥

संगति– इस प्रकार चार मंत्रों में ब्रह्मज्ञान की गहनता तथा ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का वर्णन करके अन्त में श्रुति ब्रह्मज्ञान की विधेयता और उसके अभाव में मानवजीवन की व्यर्थता का वर्णन करती है ॥ श्री ॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहादेवीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यदि इस मानवजीवन में ही साधक ने परमात्मा को अपने स्वामीरूप में जानकर प्राप्त कर लिया तब तो यह मानव जीवन यथार्थ तथा सत्स्वरूप जीवात्मा के लिए और संत महापुरुषों के लिए हितकर है। यदि इस मानवजीवन में प्रमाद तथा प्रारब्धजनित भगवद्भजनबाधक पापों के कारण साधक ने परमात्मा को नहीं जाना और न ही प्राप्त किया, तब तो उसकी बहुत बड़ी हानि हो गयी। धीर पुरुष तो प्रत्येक प्राणी के शरीर में अन्तर्यामी रूप में छिपे हुए परमात्मा को ढूँढकर उनके दिव्यदर्शन से भी कृतकृत्य हो कर इस संसार सागर से पार होकर प्रभु के दिव्यलोक साकेत में परमेश्वर के दिव्यपरिकरभाव को प्राप्त कर लेते हैं ॥ श्री ॥

व्याख्या– मानव जीवन ही कर्मक्षेत्र है और यही भगवान् की साधना का द्वार है। यदि इसमें भगवान् नहीं मिले तो कभी नहीं मिलेंगे। क्योंकि अन्य योनियों में भगवान् के भजन का विवेक नहीं रहता। यहाँ "विनष्टि" शब्द का अर्थ हानि है। भगवान् को न पाना ही सबसे बड़ी हानि है ।। श्री ।।

हानि कि जग यहि सम कछु भाई। भजिह न रामहि नर तनु पाई ।।

—(मानस ७-११२-९)

भुशुण्डि जी अपने मन से कहते है कि— हे भाई! क्यां मानव शरीर प्राप्त करके भी भगवान् को न भजने से बड़ी कोई हानि है? "भूतेषु भुतेषु" यहाँ नित्य अर्थ में द्वित्व हुआ है, तथा औपश्लेषिकी सप्तमी का प्रयोग है। संयोग और सामीप्य भेद से उपश्लेष दो प्रकार का होता है। भगवान् इन दोनों सम्बन्धों से सदैव जीवात्मा के साथ चिपके रहते हैं। सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से विराजमान रहते हैं। धीरपुरुष उन्हीं का विचयन अर्थात् अन्वेषण करते हैं। 'प्रेत्य' जब साधक को सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होने लगता है तब उसे प्रारब्धमय कलेवर को छोड़ते विलम्ब नहीं लगता। जैसे— नामदेव ने कुत्ते में बैठे भगवान् के दर्शन किये। ऐसे ब्रह्मदर्शी धीर जन भगवान् के द्वारा भेजे हुए विमान में आरूढ़ होकर दिव्य साकेत को प्राप्त करते हैं ।। श्री ।।

।। इति केनोपनिषद् द्वितीयखण्ड पर
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। अथ तृतीयखण्ड ।।

संगति– इस प्रकार दो खण्डों में श्रुति ने ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और उसका मन वाणी से परे होना सिद्ध कर दिया। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि— वह ब्रह्म है क्या ? निरवयव अथवा सावयव। निराकार या साकार ? उत्तर-दोनों ।। श्री ।।

प्रश्न- एक ही साथ ब्रह्म में दो परस्पर विरुद्धधर्म कैसे संगत होंगे ?

उत्तर- परस्पर विरुद्धधर्माश्रयता ही तो ब्रह्म का स्वाभाविक गुण है।

प्रश्न- जो-जो सावयाव होता है वह अनित्य होता है क्योंकि अवयवों का विनाश होता ही है ''यद्यद् सावयवं तदनित्यं कार्यत्वात् घटवत्'' इस अनुमान के आधार पर सावयवतापक्ष में ईश्वर में अनित्यता आ जायेगी।

उत्तर- ईश्वर में इस अनुमान का प्रवेश नहीं होता।

प्रश्न- क्यों ?

उत्तर- क्योंकि हमलोग शब्दप्रमाणक हैं, जहाँ अनुमान से वेद-मर्यादा का विरोध हो वहाँ आस्तिक जन अनुमान नहीं स्वीकार करते और अनुमान सर्वत्र सफल भी नहीं होता। जैसे शरीर से अलग होने पर अस्थि को अपवित्र माना जाता है परन्तु शंख में यह नियम नहीं लगता। इसी प्रकार उगले जाने के कारण वमन अभक्ष्य माना जाता है, परन्तु मधु उगले जाने पर भी सर्वथा शुद्ध है। इसी प्रकार ''द्यावा भूमि जनयन्देव एकः'' इत्यादि श्रुतियाँ भगवान् के अवयवों की चर्चा करते हैं।

प्रश्न- यदि कहे कि— भगवान् का शरीर होने में स्पष्ट प्रमाण क्या है ?

उत्तर- 'आकाशशरीरं ब्रह्म' यह तैतरीयश्रुति ही स्पष्ट प्रमाण है।

प्रश्न- चूँकि आकाश के पास कोई अवयव नहीं है इसलिए यह श्रुति तो ब्रह्म की निरवयवता सिद्ध कर रही है अतः आकाश की भाँति भगवान् को भी अवयवहीन होना चाहिए ?

उत्तर- नहीं ! यहाँ प्रयुक्त शरीरशब्द ही ब्रह्म को अवयववान् सिद्ध कर रहा है। आकाश उपमान का केवल इतना तात्पर्य है कि आकाश के समान नीला तथा व्यापक भगवान् का शरीर है। जैसे आकाश में मेघमालाएँ वैसे ही भगवान् के सिर पर काले घुँघराले केश। आकाश में टिमटिमाते तारों की भाँति भगवान् के श्रीविग्रह पर दिव्य आभूषण

विराजते हैं। आकाश में उदित प्रभात सूर्य की भाँति प्रभु के श्रीविग्रह पर पीताम्बर। यदि 'आकाशं शरीरं यस्य' ऐसा विग्रह होता तब तुम कदाचित् भगवान् की निराकारता कह सकते थे। परन्तु यहाँ ऐसा विग्रह नहीं है। यदि कहो कि— जैसे उपमेय में आकाश के नीलिमा आदि सभी धर्म आरोपित किये गये उसी प्रकार आकाश की निरवयवता का उपमेय में आरोप क्यों नहीं ?

उत्तर- उपमेय में सम्भवधर्म का ही आरोप होता है। जैसे चन्द्रमुख शब्द में मुख उपमेय है। यहाँ चन्द्रमा के अह्लादकत्व का ही आरोप सम्भव है। यदि उसकी श्वेतिमा का आरोप होगा तब तो मुख की सौन्दर्यविवक्षा ही समाप्त हो जायेगी। क्योंकि श्वेतिमा का आरोप करने से मुख में कुष्ठरोग का भान होगा। इसी प्रकार 'आकाश शरीरं ब्रह्म' स्थल में उपमेयकोटि में शरीरशब्द का प्रयोग होने से आकाश की निरवयवता का आरोप सम्भव नहीं है। क्योंकि शरीर निरन्तर सावयव होता है। अत: उपमेय अपने में असम्भव उपमान धर्म को नहीं स्वीकार कर सकता। इन सब उपपत्तियों को स्पष्ट करने के लिए आख्यायिका का प्रयोग किया जा रहा है।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– एक बार सबसे श्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा ने देवताओं के लिये दानवों को मार कर अभूतपूर्व विजय प्राप्त की। उसमें देवता महिमा से युक्त हुए। उन देवताओं ने 'यह हमारी ही विजय और हमारी ही महिमा है' इस प्रकार मिथ्या अभिमान कर लिया।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ 'ह' शब्द निश्चयवाची निपात अव्यय है। देवेभ्य: शब्द में तादर्थ्य में चतुर्थी है अर्थात् भगवान् को विजय की कोई कामना नहीं थी, उन्होंने देवों की दैवीसम्पत्ति की रक्षा के लिये ही दानवों को मारा था। 'विजिग्ये' यहाँ परोक्ष में लिट् का प्रयोग करके श्रुति ने घटना की प्राचीनता और अनादित्व सूचित किया।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार देवों के मन में मिथ्याभिमान आ जाने से उनकी दैवीसम्पत्ति पर संकट आ गया। क्योंकि दर्प और अभिमान ये दोनों ही आसुरी सम्पत्ति के लक्षण हैं— जैसा कि (गीता– १७-४) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, हे पार्थ, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान ये आसुरी

सम्पत्ति में उत्पन्न हुए व्यक्ति के लक्षण हैं। इस प्रकार दुर्भाग्यवशात् मिथ्याभिमान के कारण देवताओं में आसुरभाव आता देख परमकृपालु परमात्मा ने सर्वप्रथम यक्षावतार धारण किया॥ श्री॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥२॥

सामान्यार्थ– इन देवताओं के हृदय में उत्पन्न हुए झूठे विजय के अभिमान को उन सर्वज्ञ भगवान् ने जान लिया। अब देवताओं का हित करने के लिये प्रभु सगुणसाकार रूप में प्रकट हुए। यह परम पूजनीय अभीष्ट वस्तुओं का दाता रूपवान् कौन है ? इस प्रकार जिज्ञासा करते हुए अग्नि आदि देवता विवेचना करके भी भगवान् को नहीं जान पाये॥ श्री॥

व्याख्या– भगवान् भक्तों के लिए ही प्रकट होते हैं, और उनका शरीर उन्हीं की इच्छा से निर्मित्त होता है। यहाँ यक्ष शब्द कई भावों की ओर संकेत करता है। पाणिनीय यज् धातु के देवपूजा, संगतिकरण, दान ये तीन अर्थ कहे हैं। 'इज्यते इति यक्षम्!' समस्त जगत् भगवान् की पूजा करता है इसीलिये वे यक्ष कहे जाते हैं। 'इज्यते सद्भिः संगम्यते इति यक्षम्।' सन्त निरन्तर भगवान् से समागम करते रहते हैं। महर्षि वाल्मीकि से दवर्षि नारदजी कहते हैं कि— जैसे नदियाँ सतत् समुद्र से मिलती रहती हैं उसी प्रकार भगवान् श्रीराम से संत निरन्तर मिलते रहते हैं। अथवा 'यजते ददाति इति यक्षम्।' जो भक्तों को मनोवांछित कामनाएँ प्रदान करते हैं वे परमेश्वर ही यक्ष हैं, अथवा यहाँ 'इ' शब्द का 'अक्ष' शब्द के साथ समास करके 'यण्' सन्धि से 'यक्ष' बना है। 'इ' अर्थात् सीताजी 'अक्ष' याने नेत्र के समान जिन्हें प्रिय है वे भगवान् सीतापति श्रीराम ही यक्ष हैं॥ श्री॥

संगति– अब देवता यक्ष के सम्बन्ध में जानने के लिए विशिष्ट देवताओं को भेजने का उपक्रम करने लगे॥ श्री॥

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उन देवताओं ने अग्नि से प्रार्थना की कि— हे अग्निदेव! आप स्वयं जान कर यह जानने का प्रयास करें कि यह परम पूज्यनीय कौन है॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ "ब्रू" धातु प्रार्थना के अर्थ में है [illegible] धन का वाचक है। सबसे पहले [illegible]

हुआ था। इसीलिए प्रसिद्ध भी है 'अग्नेरपत्यम् प्रथमं हिरण्यम्' सोना अग्नि का प्रथम पुत्र है। 'जातं वेदः यस्मात् स जातवेदः' अर्थात् जिससे वेद यानि सुवर्ण उत्पन्न हुआ वह अग्नि ही जातवेदा है। 'तथा' कह कर अग्नि ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली॥ श्री॥

संगति– देवताओं की प्रार्थना के पश्चात् घटी हुई घटना को सूचित करते हैं॥ श्री॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब अग्निदेव द्रुतगति से दौड़े-दौड़े यक्ष के पास आये। यक्ष ने पूछा— तुम कौन हो? अग्नि ने कहा— मैं अग्नि हूँ मुझे जातवेदा कहते हैं॥ श्री॥

व्याख्या– देवताओं द्वारा सम्मानित होने के कारण अहंकार से अग्निदेव भगवान् पर कूद पड़े। इसीलिए श्रुति ने अभ्यद्रवत् शब्द का प्रयोग किया। अग्नि स्वयं भगवान् की प्रभा के चकाचौंध में इतने अभिभूत हो गये कि वे भगवान् से कुछ पूछ भी नहीं पाये केवल उनके सामने चुपचाप खड़े रहे तब यक्षवेशधारी भगवान् ने स्वयं पूँछा॥ श्री॥

संगति– यद्यपि अग्नि ने भगवान् के सामने अपने दो परिचय दिये। अग्नि कहने पर भी जब भगवान् के मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई तो अग्नि ने जातवेदा कह कर सूचित किया कि— मुझ से ही सर्वप्रथम धन उत्पन्न हुआ फिर भी तुम मुझे नहीं समझ पा रहे हो॥ श्री॥

तस्मिँ स्त्वयि किं वीर्यमिति। अपीदँ सर्वं दहेयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब यक्ष ने पूछा कि— पूर्वोक्त दो विशेषणों से युक्त तुम में किस प्रकार का सामर्थ्य है? अग्नि ने उत्तर दिया— इस पृथ्वी पर जो कुछ है, वह सब का सब मैं भस्म कर सकता हूँ॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ वीर्य शब्द का अर्थ है पराक्रम। 'दहेयम्' शब्द में शक्यार्थ में लिङ्लकार का प्रयोग हुआ है॥ श्री॥

संगति– अब परमकारुणिक श्रीहरि ने अग्नि का अहंकार चूर करने के लिए अपनी लीला से एक तत्व का निर्माण करके उसे जलाने के लिए अग्नि को नियुक्त करते हुए कहा—

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तब यक्ष रूपधारी भगवान् ने उस तिनके को आकाश में रख कर कहा— इसे जलाओ। अग्नि अपने सम्पूर्ण वेग से उपस्थित होकर भी उस तिनके को न जला सके और वहाँ से लौट आये। देवताओं से बोले कि— मैं उस यक्ष को नहीं जान पाया।। श्री।।

व्याख्या– 'तस्मै' यहाँ हितयोग में चतुर्थी है अर्थात् अग्निदेव का हित करने के लिए ही भगवान् ने अपनी लीला-शक्ति से ऐसे तृण का निर्माण किया था जिसमें उनका सारा सामर्थ्य इकट्ठा हो गया था। ''निदधौ'' उस तिनके को भगवान् ने निराधार आकाश में टिका दिया था।। श्री।।

संगति– अब देवता वायुदेव को भेजने का उपक्रम करते हैं।। श्री।।

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आग्नि के निराश लौट आने पर देवताओं ने वायुदेव से कहा— हे वायु! अब आप जाइये और जान कर आइये कि— यह यक्ष कौन है? वायु ने 'तथा' कहकर देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली।। श्री।।

व्याख्या– वायु शब्द 'वा गतिगन्धनयो:' धातु से गुण प्रत्यय युक् के आगम से बनता है। वाति इति वायु:। देवताओं का मानना है कि— तुम सर्वत्र जा सकते हो और सत्य सूचना दे सकते हो।। श्री।।

संगति– उसके अनन्तर वायु ने क्या किया? इस जिज्ञासा पर श्रुति कहती है।। श्री।।

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति। वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन् मातरिश्वा वा अहमस्मीति ।।८।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ– अब वायुदेव द्रुतवेग से भगवान् के समीप आये। भगवान् यक्ष ने पूछा– तुम कौन हो? वायु ने उत्तर दिया– मैं सर्वप्रसिद्ध वायुदेवता हूँ और मैं मातरिश्वा अर्थात् आकाश में विचरण करता हूँ।। श्री।।

व्याख्या– यद्यपि वायु ने पहले यक्ष को बुलाने का प्रयास किया। परन्तु जब वह टस से मस नहीं हुए तब वायु चुप खड़े हो गये। इसलिए

यक्ष ने स्वयं पूछा। आकाश शब्द गुणवाला है इसलिए उसे माता कहते हैं, उसमें विचरण करने से वायु को मातरिश्वा कहते हैं। इस सामर्थ्य के कहने पर भी भगवान् के मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई॥ श्री॥

तस्मि ँ्स्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीद ँ् सर्वमाददीयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब यक्ष ने पूँछा कि— तुममे सामर्थ्य क्या है ? तब वायु ने उत्तर दिया— इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह सब मैं उड़ा सकता हूँ॥ श्री॥

व्याख्या– 'अ' पूर्वक भौवादिक दद् धातु से शक्यार्थ में लिङ्लकार उत्तमपुरुष एकवचन में व्यत्यय से परस्पर परस्मैपदी व्युत् प्रत्यय करके आददीयम् रूप बनता है॥ श्री॥

संगति– अब श्रीहरि ने वायु का अहंकार चूर करने के लिए पहले की भाँति वही तिनका दिखाते हुए कहा॥ श्री॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तब यक्षरूप भगवान् ने वायु देवता के हित के लिए वही तिनका आकाश में स्थापित कर दिया और कहा इसे उड़ाओ। वायु अपने पूर्णसामर्थ्य से उस तिनके पर टूट पड़े। पर उसे न उड़ा पाये। वहाँ से सीधे लौट आये और देवताओं से बोले कि— मैं इस यक्ष को नहीं जान पाया॥ श्री॥

संगति– अग्नि एवं पवन के निराश होने पर देवताओं ने बृहस्पति-शिष्य पंडितप्रकाण्ड इन्द्र को भेजने का निश्चय किया॥ श्री॥

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात् तिरोदधे ॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की— हे मघवन्! तुम जाओ यह भलीभाँति जानकर आओ कि यह यक्ष कौन है। इन्द्र देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर जिज्ञासुभाव से बहुत शीघ्र यक्ष के समीप आये। यक्ष भगवान् उस स्थान से अन्तर्धान हो गये॥ श्री॥

व्याख्या– इन्द्र ऐश्वर्यवान् हैं। इसलिए उनमें अन्य देवताओं की अपेक्षा अभिमान की अधिक मात्रा देख कर भगवान् वहाँ से अन्तर्धान हो गये। उन्हें अपना रूप भी नहीं दिखाया संवाद की चर्चा तो दूर रही॥ श्री॥

संगति– यद्यपि अग्नि और वायु ने यक्ष के दर्शन किए और पराजित होकर वहाँ से लौटे। इन्द्र ने भगवान् के दर्शन भी नहीं किये फिर भी वह निराश नहीं हुए। इन्द्र ने निश्चय किया कि सद्गुरुकृपा के बिना भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। अत: वह यत्न करते रहे और उन्हें फल भी मिला। श्रुति इसी का वर्णन करती है॥ श्री॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँ हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद् यक्षमिति ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उसी आकाश में इन्द्र ने एक बहुत ही सुन्दर, सभी भूषणों से सजी हुई स्त्रीवेशधारिणी श्रेष्ठ महिला के दर्शन किये, जिनका नाम उमा था, जो हिमालयराज की कन्या थी। इन्द्र उनके पास आये और ब्रह्मज्ञान के लिए उन्हीं उमा को अपना सद्गुरु बनाया उन्हें प्रणाम करके इन्द्र ने पूछा— यह यक्ष कौन था ?॥ श्री॥

व्याख्या– इन्द्र को निराश देखकर स्वयं भगवती पार्वती प्रकट हुईं। इससे श्रुति ने स्वयं अवतारवाद सिद्ध किया। इन्द्र ने उमा जी को सद्गुरु बनाया इसका तात्पर्य यही है कि ब्रह्म साक्षात्कार के लिए सद्गुरुरूप सत्य आवश्यक है। सद्गुरुकृपा के बिना किसी को भी भगवान् नहीं मिला करते॥ श्री॥

।। इति केनोपनिषद् तृतीयखण्ड पर
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। अथ चतुर्थखण्ड ।।

संगति— इस प्रकार जब अग्नि एवं वायु के घोर अहंकार को भगवान् ने चूर्ण कर डाला और इन्द्र भी उनकी अन्तर्ध्यान लीला ही देख पाये। तब भगवत्कृपा से ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी माँ उमा प्रकट हुई और इन्द्र ने उन्हीं को सद्गुरू बनाया। यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि— परमपुरुषार्थ रूप ब्रह्म का उपदेश करने के लिए भगवती महालक्ष्मी अथवा वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती क्यों नहीं आयीं? भगवती उमा ही इन्द्र के उपदेशार्थ क्यों प्रकट हुईं?

उत्तर- प्रश्न बहुत उचित है। वागेन्द्रिय जड़ है। क्योंकि उसे कर्मेन्द्रियों में माना जाता है और कर्मेन्द्रियों का जड़ होना सभी दार्शनिकों को मान्य है। अत: वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती उस विशुद्धघनचेतन परमात्मा के निर्वचन में संकोच अनुभव कर रही हैं। रही बात महालक्ष्मी की। महालक्ष्मी तो महाविष्णु से अभिन्न ही हैं जब महाविष्णुरूप यक्ष भगवान् ने ही इन्द्र के समक्ष अपने को प्रकट करना उचित नहीं समझा तब उनकी अभिन्नशक्ति महालक्ष्मी अपने प्रभु का निवर्चन कैसे करेंगी। इस प्रकरण में सर्वत्र ही नपुंसकलिंग में यक्ष शब्द के निर्देश से श्रुति इस यक्ष को कुबेर के सेवक अर्थ में रूढ यक्ष से सर्वथा विलक्षण सूचित करना चाहती हैं। क्योंकि वहाँ यक्ष का प्रयोग पुंलिङ्ग में हुआ है तथा यहाँ नपुंसकलिङ्ग में।

सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— भगवती उमा बोलीं— हे इन्द्र! जिसने अग्नि, वायु का गर्व नष्ट किया और जो तुम्हारे देखते-देखते अन्तर्धान हो गया वह यक्ष यह ब्रह्म ही था। अर्थात् परब्रह्म परमात्मा ही यक्ष रूप में तुम लोगों के सामने प्रकट हुए थे। उन्हीं परब्रह्म परमात्मा के विजय में तुम लोग महिमावान बने थे। उमा के उस वाक्य से इन्द्र ने इस यक्ष को ब्रह्मरूप में जान लिया। अर्थात् इन्द्र ब्रह्मवेत्ता बन गये और उनका संशय दूर हो गया।। श्री ।।

संगति— इस प्रकार ब्रह्मज्ञान सम्पन्न इन्द्र ही हविर्भाग प्राप्त करने वाले देवताओं में जिस कारण सर्वश्रेष्ठ बने उसी हेतु को श्रुति अगले मंत्र में स्पष्ट करती है।। श्री ।।

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार भगवती उमा द्वारा ब्रह्म का उपदेश पा इन्द्र ने वायु को तथा वायु ने अग्नि को ब्रह्म उपदेश दिया। यही देवताओं की ब्रह्मविद्या परम्परा है। इसी कारण इन्द्र, वायु और अग्नि देवताओं में सर्वश्रेष्ठ हुए। क्योंकि इन्होंने ही सर्वप्रथम अपने निकटवर्ती ब्रह्म को अपने पवित्र आँखों से निहारा और इन्हीं तीनों देवताओं ने सर्वप्रथम यक्षवेश में अवतीर्ण हुए परमेश्वर को ब्रह्मरूप में जाना।। श्री ।।

व्याख्या– 'प्रथमः' यह शब्द क्रिया विशेषण होने के कारण यद्यपि द्वितीया एकवचनान्त नपुंसक लिङ्ग में है। फिर भी लिङ्ग तथा आदेश के व्यत्यय से 'अम्' को 'सु' आदेश करके 'रुत्व विसर्ग' द्वारा 'प्रथमः' इस प्रकार पठित है।। श्री ।।

'विदाञ्चकार' यहाँ वचन व्यत्यय के कारण 'विदाञ्चक्रुः' बहुवचनान्त के अर्थ में एकवचनान्त प्रयोग है। 'पस्पृशुः' शब्द का अर्थ है चक्षु-इन्द्रिय द्वारा साक्षात्कार करना।। श्री ।।

संगति– इन तीनों में कौन श्रेष्ठ है। इस पर श्रुति अगले मन्त्र में कहती हैं।। श्री ।।

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी कारण इन्द्र अग्नि आदि देवताओं में सर्वश्रेष्ठ बने। क्योंकि उन्होंने ही भगवती उमा की कृपा से सबसे पहले ब्रह्म को अपनी आँखों से निहारा और उन्होंने ही अग्नि आदि देवताओं में सबसे प्रथम इस यक्ष को ब्रह्म रूप में जाना और पहचाना।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार इस आख्यायिका से ब्रह्म की सगुण साकारता, जिज्ञासुओं के लिए भगवान् का नेत्र विषय बनना तथा भक्तों के अभिमान को नष्ट करने वाला स्वभाव, इन तीनों गुणों का निरूपण करके श्रुति ब्रह्म साक्षात्कार में दो उपमायें प्रस्तुत कर रही हैं। भगवान् के साक्षात्कार में दो प्रकार के अनुभव होते हैं। एक बिजली जैसा दूसरा पलक उघाड़ने जैसा। जब ईश्वर का साक्षात्कार होता है तब बिजली जैसी चमक होती है तथा पलकों के उघाड़ने जैसा आवरण भंग हो जाता है।। श्री

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा इतीतिन्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उस ब्रह्म के लिए इस प्रकार का उपमायुक्त आदेश है। जिस प्रकार आकाश में विद्युत चमकती है उसी प्रकार ब्रह्म चमत्कृत होता है। जिस प्रकार पलक उघड़कर बन्द हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्म आवरणभंग करके अन्तर्धान हो जाता है। यही ब्रह्म का अधिदैवत रूप है ॥ श्री ॥

व्याख्या– यहाँ आदेशशब्द उपमा सहित उपदेश का बोधक है। "अ" शब्द इव के अर्थ में प्रयोग हुआ है ॥ श्री ॥

संगति– अब ब्रह्म के आध्यात्मिक रूप का वर्णन किया जा रहा है ॥ श्री ॥

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णँ सङ्कल्पः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब अध्यात्म का वर्णन करते हैं— जिसमें मन जाता हुआ सा तथा जिसके समीप रहकर स्मरण करता हुआ सा प्रतीत होता है, वही भगवान् का अध्यात्म है ॥ श्री ॥

व्याख्या– जिसके द्वारा आत्मा अधिकृत किया जाता है उसे अध्यात्म कहते हैं। परमेश्वर की ही चेतना से मन अपने संकल्प में प्रवृत्त होता है। यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकरण में प्रदर्शित दो मंत्रों द्वारा क्रम से सगुण तथा निर्गुण रूपों का वर्णन किया गया। भगवान् के ये दोनों रूप प्रमाणिक हैं। इन्हीं को बृहदारण्यक उपनिषद् में मूर्त और अमूर्त नामों से कहा गया है। जब भगवान् भक्तों के लिए अपने दिव्य गुणगणों को प्रकट करते हैं तब उन्हें सगुण साकार कहा जाता है तथा जब वे तत्कालीन परिस्थित में अनावश्यक जान कर अपने गुणों और आकारों को छिपा लेते हैं तब उनहें निर्गुण निराकार कहा जाता है। इन दोनों ही पक्षों में भगवान् के रूप और गुणों का निषेध नहीं होता है। भगवान् निरन्तर आकार तथा गुणों से मुक्त ही हैं क्योंकि श्रुति भी कहती हैं 'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूवं'। गुणों और रूपों की प्रकटदशा में भगवान् सगुण साकार कहे जाते हैं और इन्हीं को अपने में निर्लीन कर लेने पर वे ही परमेश्वर निर्गुण निराकार कहलाते हैं। इस प्रसंग की और व्याख्यायें अन्यत्र कही

जायेंगी। उन्हीं सगुण-निर्गुण रूपों को केनोपनिषद् में अधिदैवत और अध्यात्म स्वर से कहा गया॥ श्री॥

संगति– इस प्रकार निर्गुण-सगुण की व्याख्या और उनमें कुछ तात्विक अन्तर कह कर श्रुति अब उन दोनों की उपासना का वर्णन करती है॥ श्री॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनँ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह निर्गुण-सगुण रूप ब्रह्म वन है। उसे वन मानकर ही उसकी उपासना करनी चाहिए। जो व्यक्ति ब्रह्म को सबके भजनीय रूप में जानता है, सभी प्राणी उसी को अपना पथप्रदर्शक बनाने की इच्छा करते हैं॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ वन शब्द भजनीय के अर्थ में प्रयुक्त है। 'वन्यते इति वनम्' 'वन' धातु का संभक्ति अर्थ है और सम्भक्ति ही सम्यक् भजन है। भगवान् ही भजने योग्य हैं। इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा है— 'नाहिन भजने योग वियोग'॥ श्री॥

संगति– अब उपनिषद् का उपसंहार करते हुए शिष्य के प्रश्नों का अनुवाद करते हैं॥ श्री॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे वत्स! 'आप मुझे उपनिषद् सुनाइये, इस प्रकार तुम्हारे द्वारा प्रार्थना किये जाने पर मैंने तुम्हें ब्रह्मरहस्यप्रतिपादक उपनिषद् सुनायी। ब्रह्मोपासना के लिए उपनिषद् से अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है इसलिए मैंने तुम्हें उपनिषद् ही सुनायी।

व्याख्या– इस मन्त्र की व्याख्या में कुछ लोग 'उपनिषदं ब्रूहि' यह अंश शिष्य द्वारा कहा हुआ मानते हैं। इतनी विशद व्याख्या के पश्चात् भी शिष्य का अज्ञान बना रहा होगा ऐसा मुझे नहीं लगता। अत: मैं इसे शिष्य के पूर्वकथन का अनुवाद ही मानता हूँ। इसे ब्रह्म उपनिषद् इसलिए कहा गया क्योंकि अन्य उपनिषदों में तो भिन्न-भिन्न विषयों का वर्णन है परन्तु केनोपनिषद् में एकमात्र ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है। 'उपनिषीदति इति उपनिषद्' जो भगवान् से सटकर बैठती है उसे उपनिषद् कहते हैं। अर्थात्

उपनिषद् साक्षात् भगवान् की महिमा का प्रतिपादन करती है अन्य श्रुतियाँ परम्परया। इसलिए कर्मकाण्ड तथा उपासना काण्ड की श्रुतियाँ भगवान् की बहिरंग पत्नियाँ हैं तथा ज्ञानकाण्ड की श्रुतियाँ भगवान् की अन्तरंग पत्नियाँ हैं और ये ही उपनिषद् कहीं जातीं हैं॥ श्री॥

संगति– अब 'रोचनार्था फलश्रुतिः' अर्थात् फलश्रवण से साधारण व्यक्ति भी सत्कर्म में लग जाता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम मन्त्र में श्रुति फल-श्रवण करा रही है॥ श्री॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उस ब्रह्म विद्या के लिए चान्द्रायणतप, इन्द्रियों का दमन, श्रुतिविहित कर्म, प्रतिष्ठा, लोक में सम्मान तथा परलोक में भगवत् सेवा, सभी वेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण ये सभी अंग, सत्यभाषण तथा सुन्दरभवन ये सभी लक्षण ब्रह्मज्ञों को स्वयं प्राप्त हो जाते हैं॥ श्री॥

संगति– फल का संकीर्तन करके ग्रन्थ का विश्राम करते हैं॥ श्री॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो साधक इस रहस्य को जानता है, वह पापों को समाप्त करके अविनाशी तथा किसी के द्वारा न जीतने योग्य साकेत लोक में प्रतिष्ठापूर्वक विराजता है और वहाँ से कभी लौटकर नहीं आता॥ श्री॥

राघव कृपा भाष्य रचि केनोपनिषदि माँहि।
रामभद्र आचार्य बुध सुनि सब संशय जाँहि॥

॥ इति श्रीचित्रकूटपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दचार्य प्रणीत श्रीकेनोपनिषद् का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण हुआ॥ श्री॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

•

।। श्रीः ।।

ध्रुवमिदं, विश्वस्य विश्वेऽपि विचरकाश्चामनन्ति यज्जीवेनात्यन्तिकं सुखं नोपलब्धुं शक्यते केवलैः सांसारिकैर्भोगैः। तत्कृते तु तैः जगन्नियन्तुः परमात्मनः शरणमेवाङ्गीकरणीयम्। अनादिकालादेव सर्गेऽस्मिन् ब्रह्मजिज्ञासासमाधानपराः विचाराः प्रचलन्ति। विषयेऽस्मिन् सर्वे दार्शनिकाः सहमता यद्वेदैरेवास्य गूढरहस्यात्मकस्य परब्रह्मणः प्रतिपादनं सम्भवम्।

परब्रह्मणो निश्वासभूता अनन्तज्ञानराशिस्वरूपाः वेदाः ज्ञानकर्मोपासनाख्येषुत्रिषु काण्डेषु विस्कृताः सन्ति। एषां ज्ञानकाण्डाख्य उपनिषद्भागे वेदान्तापरनामधेया ब्रह्मविद्या वैशद्येन विर्वोचता व्याख्याता चास्ति। आसामुपनिषदां सम्यग्ज्ञानेनैव ब्रह्मज्ञानं तेन च भवदुःखनिवृत्तिरित्युपनिषदां सर्वातिशायिमहत्वं राद्धान्तयन्ति मनीषिणः। आसु प्रश्नोत्तरात्मकातिरमणीयसुमम्यसरलशैल्या जीवात्मपरमात्मनोर्जगतश्च विस्तृतं व्याख्यानं कृतमस्ति। अनेकैर्महर्षिभिरनेकैः प्रकारैरुद्भावितानां ब्रह्मविषयकप्रश्नानां समाधानानि ब्रह्मवेतृणां याज्ञवल्क्यादिमहर्षीणां मुखेभ्य उपस्थापयन्त्युपनिषदः। भगवता वेदव्यासेन ब्रह्मसूत्रेषु भगवता श्रीकृष्णेन च श्रीगीतायामासामेव सारतत्वं प्रतिपादितम्।

भारतीयदर्शनानामाधारभूता इमे त्रयो ग्रन्थाः विभिन्नसम्प्रदायप्रवर्तकैराचरयैर्व्यख्याताः। एष्वद्वैतवादिन आद्यशङ्कराचार्याः प्रमुखा, अन्ये च द्वैतशुद्धाद्वैतद्वैताद्वैतशिवाद्वैतदिवादिनो विद्वांसः स्वस्वमतानुसारमुपनिषदः व्याख्यापयांबभूवुः।

अथ साम्प्रतिकभारतीयदार्शनिकमूर्धन्यैर्वेदवेदाङ्गपारङ्गतैर्धर्मध्वजधारिधौरेयैः श्रीरामानन्दाचार्यैः श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यमहाराजैर्विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमनुसृत्य कृतामिदमुपनिषदां **''श्रीराघवकृपाभाष्यम्''** सर्वत्रैवाभिनवविचारैर्व्युत्पत्तिभिश्चालङ्कृतं विभाति। भाष्येऽस्मिन्नाचार्यचरणैः शब्दव्युत्पत्तिचातुरीचमत्कारेण सर्वोपनिषदां प्रतिपाद्यः भगवान् श्रीराम एवेति सिद्धान्तितम्। मध्ये मध्ये गोस्वामिश्रीतुलसीदासग्रन्थेभ्यः ससंस्कृतरूपान्तरमुदाहृता अंशविशेषासुवर्णे सुरभिमातन्वन्ति। श्रीराघवपदपद्ममधुकराः भक्ता अत्रामन्दानन्दमाप्नुयुरिति भगवन्तं श्रीराघवं निवेदयति।

डॉ. शिवरामशर्मा
वाराणसी